कर्म बन्धन
और
मुक्ति की प्रक्रिया

•

चन्दनराज मेहता

कर्म बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया

प्रथम संस्करण- १९८३
प्रतियाँ- १०००
मूल्य- २२)

लेखक व प्रकाशक-
चन्दनराज मेहता
२३, मेड़तिया सिलावटों का बास,
जोधपुर-३४२००१.

सर्वाधिकार लेखकाधीन

मुद्रक :
गंगाराम प्रजापति
न्यू नारायण प्रिण्टर्स
घोड़ों का चौक, जोधपुर
☎ 27337

BONDAGE OF KARMAS AND LIBRATION OF SOUL

Chandanraj Mehta

* अर्हम् *

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

ऐसो पंच णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मगलाणं च सव्वेसि, पढ़मं हवइ मंगल ॥

चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं, केवली पण्णत्तो. धम्मो मंगलं ॥

चत्तारि लोगुत्तमा अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा, केवली पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥

चत्तारि सरणं पवज्जामि. अरहंते सरणं पवज्जामि ।
सिद्धे सरणं पवज्जामि, केवली पण्णत्तं धम्मं सरण पवज्जामि ॥

अर्हंतो भगवन्त इन्द्र महिता सिद्धाश्च सिद्धि स्थिताः ।
आचार्याः जिन शासनोन्नत्तिकराः पूज्या उपाध्यायिकाः ॥
श्री सिद्धान्त सुपाठिका मुनिवराः रत्नत्रयाराधिकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तुनो मंगलम् ।
वीर पार्श्व नमि सुपार्श्व सुविधि, श्रेयांस मल्लि शशिः
नेमि नाभिज वासुपूज्य विमलो पदम प्रभुः शीतलः ।
कुंथु शान्त्यभिनंदनाः । अरमुनि धर्मोऽजिते संभवा-
नतः श्री ॥ सुमतिश्च तीर्थपतयः कुर्वंतु मे मंगलम् ॥

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहन्ते कित्तइस्सं, चउव्वीसंपि केवली ॥ १ ॥

उसभमजियं च वन्दे, संभवमभिनन्दणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिण च चन्दप्पहं वन्दे ॥ २ ॥

सुविहिं च पुप्फदन्तं, सीयल सिज्जंसवासुपुज्ज च ।
विमल मणंतं च जिणं, धम्मं सन्ति च वन्दामि ॥ ३ ॥

कुंथुं अरं च मल्लिं, वन्दे मुणिसुव्वयं नमि-जिणं च ।
वन्दामि रिट्ठनेमि, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

एवं मए अभिथुया, विहूयरयमला पहीण जर मरणा ।
चउव्वीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयन्तु ॥ ५ ॥

कित्तिय-वन्दिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहिवर मुत्तमं दिन्तु ॥ ६ ॥

चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवर गम्भीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु ॥ ७ ॥

चौबीस तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करके मैं अपने आराध्य पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री तुलसी व युवाचार्य महाप्रज्ञ को श्रद्धापूर्वक वन्दना करता हूं और उनके प्रति अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए यह कामना करता हूं कि आपके देव तुल्य दर्शन व अमृतमय वाणी से मेरे मन का मैल धुल जाय और अज्ञानरूपी तम दूर होकर ज्ञान की ज्योति जगमगा उठे एवं आपके माग दर्शन से मेरे हृदय में सद्भावना जाग्रत हो उठे। अकेले मेरे हृदय में ही नहीं अपितु जनजन के मानस में भी। साथ ही अहिंसा एव सत्य की स्वर लहरी से सब के हृदय ताल तरंगित हो जाय। पूज्य गुरुदेव व युवाचार्य महाप्रज्ञ की परोक्ष प्रेरणा इस पुस्तक के लेखन में रही है।

स्वाध्याय वर्ष
(सम्वत्– २०३९–४०)

चन्दनराज मेहता

अहो ! अहो !! श्री सद्गुरु, करुणा सिन्धु अपार ।
आ पामार पर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो !! उपकार ॥

जे स्वरूप समझ्या बिना, पाम्यो दुःख अनन्त ।
समझाव्यो ते पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवन्त ॥

परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम ।
जेहने आप्यूं भान निज, तेहने सदा प्रणाम ॥

देह छतां जेहनी दशा, वर्ते देहातीत ।
ते ज्ञानीनां चरण मां, हो वन्दन अगणीत ॥

जिसने रागद्वेष-कामादि औऽऽ, जीते सब जग जान लिया ।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥

बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्माऽऽ या पैगम्बर हो अवतार ।
सब के चरण कमल में मेरा, वन्दन होवे वार-वार ॥

स्व - कथन

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्व-दर्शन या मोक्ष दर्शन रहा है। धर्म का आधार है जीवन और दर्शन का आधार है साहित्य। शरीर, मन और चित्त-तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। शरीर और मन पौद्गलिक हैं और चित्त अपौद्गलिक। फिर भी एक सूत्र में बन्धे होने के कारण ये परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। हर समझदार व्यक्ति अपना रूपान्तरण चाहता है, व्यक्तित्व को बदलना चाहता है। अच्छे व्यक्तित्व या अच्छे जीवन की पहली शर्त है आत्म-नियन्त्रण। टालस्टाय ने कहा– आत्म-नियन्त्रण की पहली शर्त है उपवास। हमें आत्म-नियन्त्रण उपवास से शुरू करना चाहिये। भगवान महावीर ने भी यही कहा "आत्म-नियन्त्रण का प्रारम्भ तपस्या से करो, अनशन से करो।" दोनों के कथन में पूर्ण साम्य है। हमें स्वभाव को बदलना है, कषाय को कम करना है। स्वभाव बदला जा सकता है, कषाय कम हो सकता है। उसके कई मार्ग हो सकते हैं परन्तु एक मार्ग है 'प्रेक्षा ध्यान'। प्रेक्षा का मतलब है– केवल देखना, केवल जानना। "प्रेक्षा ध्यान" की विशिष्ट भूमिका मानव को सहज अन्तर्मुखी बनाने वाली है।

इतिहास कहता है कि जैन परम्परा में ध्यान की कोई स्वतंत्र शाखा नहीं रही, इसलिए उसके ध्यान-सूत्रों की अभ्यास-पद्धति विच्छिन्न हो गई। वि० स० २०३२ में आचार्य श्री तुलसी के जयपुर चातुर्मास में जैन परम्परागत ध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित हुआ। यहीं से "प्रेक्षा ध्यान" की अभ्यास विधि शुरू हुई। आचार्य श्री तुलसी के तत्वाधान में अनेक शिविर लगे, जहां

सैंकड़ों नर नारियों ने युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा सम्पादित प्रशिक्षण से लाभ उठाया। उन प्रशिक्षार्थियों मे से मैं भी एक था। मेरी इस ओर रुचि बढ़ी और "ध्यान" के अभ्यास को चालू रखते हुए सम्बन्धित साहित्य अध्ययन करने हेतु अग्रसर हुआ। युवाचार्य महाप्रज्ञ ने एक जगह लिखा है कि "प्रेक्षा ध्यान" एक प्रकार का आध्यात्मिक सोपान है जिस पर चलने के लिए निरन्तर अभ्यास की जरूरत है। "प्रेक्षा ध्यान" के निरन्तर अभ्यास के बिना आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यों को नहीं समझा जा सकता एवं इन सूक्ष्म रहस्यों को समझे बिना आध्यात्मिक चेतना के अंतरग पथ को नहीं पकड़ा जा सकता। "प्रेक्षा ध्यान" आत्मा को कर्मो से मुक्त करने का सही मार्ग है इसलिए कर्म–सिद्धान्त सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कर तत्व की गहराइयों में जाकर इसके रहस्य को पकड़ना आवश्यक है ऐसा उन्होंने संकेत दिया। इस कथन से मेरे विचारों को पुष्टि मिली और सम्बन्धित साहित्य का पठन कर उसे समझने का प्रयास किया और कुछ अंशो को लिपिवद्ध भी किया। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैंने कोई मूल आगम, शास्त्र या सूत्रों का अध्ययन नहीं किया है; केवल उन विद्वान व अनुभवी लेखकों द्वारा लिखी गई पुस्तकों व लेखों को पढ़ा है जो शास्त्रों, आगमों व स्वयं के अनुभव के आधार पर लिखे जाने के कारण प्रामाणिक हैं। विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव, उनकी सग्रहात्मक निधि साहित्य और उसका आधार भाषा– ये तीनों चीजें दुनिया के सामने तत्त्व रखा करती हैं। सूरज, वायु और आकाश की तरह ये तीनों चीजें सब के लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है जहां पर साम्प्रदायिक, सामाजिक, जातीय व इसी प्रकार के दूसरे भेद मिट जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन सिद्धांत तत्त्व का विवेचन है, विद्वान

व अनुभवी लेखकों के आंशिक कथन भी हैं और निजी विचार भी हैं। यह भी एक सत्य है कि जहां धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष समझाया जाता है वहां धर्म का व्यावहारिक पक्ष भी उजागर होता है। धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष की बात धर्म की व्यावहारिकता को पुष्ट करने के लिए कही जाती है। जैन धर्म अगर सिद्धान्त तक ही सीमित रह जाय तो ऐसा सैद्धांतिक पक्ष हमारे काम का नही। शास्त्रों से प्रेरणा मिलती है, मार्ग दर्शन मिल सकता है और अधिक कुछ नहीं। लाभ व्यवहार से ही होता हैं। इसलिए धर्म का व्यावहारिक पक्ष कैसे निभाया जा सकता है इसको ध्यान में रखना आवश्यक है। आचार्य श्री तुलसी द्वारा रचित एक गीतिका में इस विचार की पुष्टि इस प्रकार की गई है:—

शास्त्रों से आलोक पाएं, हम न केवल गीत गाएं।
पैठ कर गहरे समंदर, आत्म-अनुसंधान हो अब ॥
शोध होती आत्म-व्रत से, सबक ले पश्चिम जगत से।
भूलकर अस्तित्व अपना, हम स्वयं भगवान हों अब ॥
साधना के उच्च शिखरों पर, विजय अभियान हो अब।
प्राप्त करने साधना को, ये प्राण भी बलिदान हो अब ॥

इसी तरह का कथन "विपश्यना" में भी आया है:— "व्यावहारिक पक्ष शील व सदाचार हैं। समाधि— मन को वश में करना हैं; प्रज्ञा है— चित्त को राग विहीन बनाने का, निर्मल बनाने का। उसे मैत्री, करुणा आदि सद्गुणों से भरने का काम है। शील, समाधि और प्रज्ञा का मानव में होना यही धर्म का सार है। "धर्म" का व्यावहारिक पहलू उजागर हो जाय इसलिये इन कथनों का उद्धरण किया गया है।

तेरापंथ धर्म-संघ के विशिष्ट व कर्मठ श्रावक स्व० सम्पत मलजी साहब भण्डारी का प्रसंग देना यहां मैं अत्यावश्यक समझता हूँ क्योंकि वे अपने बाल्यकाल से ही मानवता में, कर्त्तव्य-निष्ठ होने में, ईमानदारी व प्रामाणिकता में विश्वास करते थे और राज्य सेवा में उच्च प्रशासनिक अधिकारी होते हुए भी उन्होंने अपने सिद्धान्तों को निभाते हुए प्रामाणिक व धार्मिक जीवन जीया। राज्य सेवा से निवृत होकर उन्होंने जैन श्वेताम्बर मानव शिक्षण संस्था, राणावास, तेरापथी सभा व श्री ओसवाल सिंह सभा, जोधपुर के अध्यक्ष के रूप में उसी कर्त्तव्यनिष्ठा व लगन से कार्य किया। उनकी प्रशस्ति व उनके गुणों का अंकन करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। जैन दर्शन का उन्हें ठोस अध्ययन था; साथ ही साथ अपने गुरु के प्रति उनकी गहरी आस्था एवं श्रद्धा थी। श्री सम्पतमलजी साहब से युवा अवस्था मे ही मेरे पूज्य पिताजी स्व. श्री भैरूराजजी साहब मेहता का सम्पर्क हुआ था और वह सम्पर्क तेरापंथ सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों के उनकी हवेली में निरन्तर विराजने के कारण और भी प्रगाढ़ हो गया। परिणाम स्वरूप मेरे पिता श्री को इस वातावरण में यथार्थ तत्त्व ज्ञान की जानकारी हुई और वे अपनी पूर्व परम्परा को छोड़कर तेरापंथ धर्म संघ के अनुयायी बन गये। जोधपुर में तेरापंथी सभा स्थापित करने में उनका भारी योगदान रहा। मेरे पिताजी तो सन् १९४२ में अल्पायु में ही दिवंगत हो गये परन्तु उनके स्वर्ग-वास के बाद मेरा स्व० सम्पतमलजी साहब से सम्पर्क अधिक प्रबल होता गया और वही निकटतम सम्बन्ध उनसे शेष जीवन तक बना रहा। उनके सम्पर्क में आने से मेरे स्व० पिताजी का तो आध्यात्मिकता की ओर रुचि जागृत हुई ही थी, पर मेरी भी रुचि इस ओर बढती गई।

पुस्तक लिखने के प्रथम प्रयास में मेरे भतीज श्री देवेन्द्र मेहता एवं डा० ऋषभ भंसाली और अपने जीवन के अन्त तक स्व० श्री जबरसिंहजी सचावत का बहुत सहयोग रहा। मैं इनका बहुत आभारी हूं। पांडु लिपी को अन्तिम रूप देने, भाषा व तथ्य सम्बन्धी सुझाव देने व मुद्रण व प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में निरन्तर सहयोग जो श्री राजेन्द्र मेहता ने दिया है, वह कर्त्तव्य-निष्ठा का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। उनकी प्रशस्ति करना मेरे लिए उचित नहीं। इस पुस्तक के मुख्य पृष्ठ की डिजाइन का स्वरूप श्री संजीव मेहता ने दिया है, उनकी यह उपज सराहनीय है। पुस्तक में जिन लेखों एवं पुस्तकों के विचारों का समावेश किया गया है उनके विद्वान लेखकों और सम्बन्धित पत्रिकाओं के सम्पादकों/प्रकाशकों का भी मैं आभार व्यक्त करता हूं।

इस प्रकार छप कर तैयार हुई यह पुस्तक स्व० श्री सम्पतमलजी साहब भण्डारी की पुण्य स्मृति में आज मैं परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी व युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के चरण कमलों में समर्पित करता हूं।

इस पुस्तक में किसी सुविज्ञ पाठक को यदि मुद्रण अथवा तथ्य सम्बन्धी कोई त्रुटि मिले तो मुझे क्षमा तो करेंगे ही परन्तु साथ ही साथ उन त्रुटियों से मुझे भी अवगत करायेंगे और भविष्य के लिए उपयुक्त सुझाव भी देंगे ऐसी मैं आशा करता हूं।

६३ सिलावटों का बास,
सोजती गेट के अन्दर, जोधपुर (राज.)
१५-८-८३

चन्दनराज मेहता

अभिमत

चाँदमल लोढ़ा
भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति, राजस्थान हाईकोर्ट व गौहाटी हाईकोर्ट,
अध्यक्ष, ओसवाल सिंहसभा, जोधपुर.

श्री चन्दनराजजी मेहता द्वारा प्रस्तुत जैन धर्म के सिद्धान्तों का यह विवेचन विश्वसनीय प्रमाणों पर आधारित है और अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। "कर्म-बन्धन व मुक्ति की प्रक्रिया", पुस्तक में पुद्गल की व्याख्या व गुण, कर्म की चर्चा, आत्मा क्या है और उसकी वैभाविक क्रिया व बन्धन, मुक्ति, जैन दर्शन व कर्मवाद जैसे गूढ विषयों पर लेखक ने सरल भाषा में प्रकाश डाला है। लेखक अपने दृष्टिकोण से चला है और परम्पराओं से उन्मुक्त होकर भी। यह एक सराहनीय व साहसिक कदम है। आशा है जैन व अजैन भाई इस पुस्तक का गहरे पैठ कर अध्ययन करेंगे।

चाँदमल लोढ़ा

डा. महावीरराज गेलड़ा
प्राचार्य, डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर.

जीवन का लक्षण उपयोग है। उपयोग से वह जानता है, देखता है। लेकिन सांसारिक जीव समस्त को नहीं जानता है और नहीं देखता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव के साथ बन्धे हुए कर्म जीव के शुद्ध अस्तित्व ज्ञान, दर्शन और वीर्य के व्यवहार में बाधा डालते हैं। कर्म पुद्गल है। जैन मत में कर्मों की धारणा अन्य दर्शनों से बिल्कुल भिन्न है। कर्म द्वारा निर्मित कार्मण शरीर जीव को प्रभावित करता रहता है। इस प्रभावित जीव की अवस्था का नाम अध्यवसाय है। ये अध्यवसाय न तो शुभ होते हैं और न अशुभ, लेकिन कर्मों से प्रेरित होने के कारण औपचारिक रूप से शुभ-अशुभ कहे जाते हैं। शुभ-अशुभ की समस्त धारणा जीव और कर्म के परस्पर प्रभाव से उत्पन्न हुई है। जीव को कर्म से मुक्त करने वाले अध्यवसाय शुभ है और इन दोनों को प्रगाढ़ करने वाले अशुभ हैं। अध्यवसायों में समय सापेक्ष जो परिवर्तन आता है उसे परिणाम कहा है। सांख्य मत में, प्रकृति में साम्य तथा वैषम्य के बीच बनते-बिगड़ते संतुलन को परिणाम कहा है। कर्मों का विपद वर्णन जितना जैन साहित्य में उपलब्ध है, अन्य दर्शनों में नहीं है। विद्वानों द्वारा इसका गहरा अध्ययन होना आवश्यक है। स्व० डा० ए. एन. उपाध्ये को जब मूडबिन्दी (दक्षिण भारत) के जैन भण्डार में कुछ पाण्डुलिपियां मिली जिसमें विस्तार से कर्म-विवेचना थी तो उन्होंने इसे भ्रम से लुप्त बारहवां आगम दृष्टिवाद मान लिया और अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी में उस पर एक लेख का वाचन कर दिया। पाश्चात्य विद्वान डा. आल्सडोर्फ ने इसका निराकरण करते हुए एक दूसरे लेख में स्पष्ट किया कि डा. उपाध्ये ने जैन श्वेताम्बर साहित्य में वर्णित

कर्म विवेचना नहीं देखी है अतः उन्हें उन पाण्डुलिपियों को दृष्टिवाद मान लेने का भ्रम हुआ है। वास्तव में वह दृष्टिवाद का साहित्य नहीं था।

कर्म वर्गणाओं की तरंगीय प्रकृति का अध्ययन आधुनिक वैज्ञानिकों का आकर्षक विषय हो सकता है। आगमों में वर्णन है कि कर्म अत्यन्त सूक्ष्म है और जीव के साथ तीव्र गति करे तो एक समय में ही लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाते हैं। विचित्रता यह है कि ये ही वर्गणाऐं अगर धीमी गति करे तो एक आकाश प्रदेश से केवल दूसरे आकाश प्रदेश तक जाने में भी एक समय ले लेती हैं। इससे आभास होता है कि ये सूक्ष्म कर्म पुद्‌गल, आकाश निरपेक्ष गति करते हैं। सांख्य मत ने भी सत, रज, तम, इन तीन गुणों के वर्णन में रज गुण को एनर्जी (Energy) कहा है और इस गुण का व्यवहार, जैन मत में सूक्ष्म पुद्‌गल के प्रायः समान ही है।

जैन दर्शन में जहां कर्म बन्ध के कारण को आस्रव कहा है वहां सवर और निर्जरा के द्वारा कर्म–मुक्ति के उपाय भी बताये हैं। कर्मो के बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया में लेश्या के रंग प्रधान पुद्‌गलों की आवश्यकता को समझाया है। जर्मन विद्वानों ने यद्यपि लेश्या को आजीवकों का विषय माना है लेकिन जैन साहित्य मे लेश्या पर जितना वर्णन हुआ है उतना आजीवक साहित्य में नही है। अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या और योग का जो क्रमिक वर्णन, जैन परम्परा में चर्चित है उतना आजीवक साहित्य में नहीं है। आजीवक साहित्य में तो प्राणियों के विभेद करते हुए उन्हें छः भागों में बांटा है। उन्हें छः लेश्याओं से समझाया है। जैन दर्शन ने जीव-कर्म के विषय को बन्ध और मुक्ति

के उपायों द्वारा निर्देशित कर इसे पूर्ण वैज्ञानिक बना दिया है।

श्री चन्दनराजजी मेहता ने जैन तत्व-चिन्तन के महत्त्वपूर्ण विषयों का इस पुस्तक में विवेचन किया है। आत्मा कर्म पुनर्जन्म, पुण्य, पाप, मोक्ष आदि नाम समाज में बहुत प्रचलित हैं, हर साधारण व्यक्ति इन नामों को जानता है लेकिन इनकी वास्तविकता को बहुत कम जानते हैं। श्री मेहताजी ने अपने उज्ज्वल नैतिक जीवन के साथ साथ जैन तत्व पर चिन्तन, मनन किया है, उसी का परिणाम है यह पुस्तक हमारे हाथों आई है। साधु सन्तों के प्रवचनों, विद्वानों के साहित्य में जो मिला उसे संवार कर अपनी आस्था के साथ, यह श्रम किया है। सूत्रों की बातें कठिन होती हैं लेकिन इनको श्री मेहताजी ने सरल भाषा मे लिख कर इसे सरस बना दिया हैं। आशा है, जैन धर्मावलंबियों के अतिरिक्त भी भारतीय धर्मों में आस्था रखने वाले सभी पाठकों को यह पुस्तक लाभान्वित करेगी।

महावीरराज गेलड़ा

डा. अमृतलाल गांधी
(प्राध्यापक, जोधपुर विश्व विद्यालय)
मन्त्री, महावीर इन्टरनेशनल, जोधपुर.

जैन दर्शन परमात्मावादी न होकर आत्मावादी है। वह सृष्टि के रचयिता के रूप में ईश्वर जैसी किसी शक्ति को नहीं मानता। इसके अनुसार यह सृष्टि प्राकृतिक रूप से अनादि व अनन्त है। इसमें अनेकों आत्माएं कर्म-बन्धन के कारण परिभ्रमण करती रहती हैं परन्तु जो आत्मा अपने कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है, वह मोक्ष प्राप्ति कर स्वयं परमात्मा बन जाती है। उत्तराध्यायन सूत्र की गाथा 20/37 में लिखा है कि "अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य। अप्पा मितममित्तम च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिय।।" अर्थात् अपनी स्वयं की आत्मा ही सुख-दुःख लाने वाली है, उसके फल भोगने वाली है एवं उनसे मुक्ति पाने वाली है। जब तक आत्मा पर शुभ-अशुभ कर्मो का आवरण है वह मनुष्य, पशु, देव और नारकी की चार गतियों की चौरासी लक्ष योनियों में बार बार भ्रमण करती है, परन्तु सभी प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त होने पर आत्मा मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करती है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर लगे आठों प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष प्राप्ति है और 'संवर और निर्जरा' रूप मोक्ष के साधन हैं। 'संवर' का अर्थ है 'कर्म आने के द्वार रोकना' और 'निजरा' का अर्थ है 'पहले से आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मों का क्षय करना।'

परमात्मावादी विचारधारा की मान्यता है कि परमात्मा का भक्त बनने में ही आत्मा की कृतार्थता है तथा वह अपनी विशुद्ध भक्ति द्वारा मोक्ष तक को प्राप्त कर सकती है। परन्तु जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति किसी दूसरे के हाथ की वस्तु नहीं है

अपितु, किसी भी आत्मा की मुक्ति उसी के हाथ में है। जीवन के इसचरम लक्ष्य की साधक अपनी ही साधना द्वारा चौदह गुण स्थानों में आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा प्राप्त कर सकता है। निम्न श्लोक मे यह बात भली भांति स्पष्ट हो जाती है :—

"स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्मादं विमुच्यते ॥"

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष का अर्थ है, "समस्त कर्मों से मुक्ति" अर्थात् इसमें अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म आते हैं क्योंकि हथकड़ियां चाहे सोने की हों या लोहे की, दोनों ही मनुष्य को बन्धन युक्त रखती है। उसी प्रकार जीव को उसके शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म बन्धन में रखते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव एक द्रव्य है और द्रव्य लोक के अग्रभाग में स्वतः पहुँच जाता है। दीपक की लौ का स्वभाव ऊपर जाना है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव भी ऊपर जाना है। कर्म के कारण उसमें भारीपन आता है, परन्तु कर्म मुक्त होने पर स्वाभाविक रूप से ही आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है। जब तक कर्म पूर्ण रूप से क्षय नहीं होते. तब तक आत्मा का शुद्ध स्वभाव छिपा रहता है जैसे बादलों में सूर्य। बादलों के हटते ही जैसे सूर्य पुनः अपने प्रकाश के साथ चमकने लगता है. वैसे ही आत्मा से कर्मों का आवरण हटते ही आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में चमकने लगती है। परन्तु सूर्य पर तो कदाचित् बादल पुनः आ सकते हैं परन्तु आत्मा एक बार कर्म–मुक्त होने पर फिर कभी कर्मों से आवृत नहीं होती।

विद्वान लेखक एवं चिंतक श्रीयुत् चन्दनराजजी मेहता ने अपनी पुस्तक "कर्म–बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया" में उपरोक्त

सिद्धान्तों का विश्लेषण वैज्ञानिक एवं तर्क पूर्ण रूप से किया है। कर्म बन्धन एवं कर्म का उदय किस प्रकार होता है? क्या कर्म पूर्णतया निरकुंश है? क्या मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने कर्म बन्धनों को काटकर अपना भाग्य बदल सकता है? क्या हमारे जीवन में जो कुछ घटित होता है वह सब कुछ पूर्व कर्मों का ही फल है अथवा उस पर वर्तमान के व्यवहार एवं आचरण का भी प्रभाव पड़ता है?

प्रस्तुत रचना में लेखक ने ऐसे अनेक गंभीर प्रश्नों का विवेचन सरल भाषा में विषय को रोचक बनाते हुए किया है। प्रस्तुत रचना पर लेखक के दीर्घ कालीन अध्ययन, मनन एवं चिंतन की छाप है। श्री मेहता का पुस्तक लेखन के क्षेत्र में यह प्रथम प्रयास सर्वाङ्गीण रूप से प्रशंसनीय है।

मेरा दृढ विश्वास है कि परमात्मावादो व आत्मावादी दोनों प्रकार की विचार धाराओं के जिज्ञासु पाठक इस पुस्तक का अध्ययन कर लाभान्वित होंगे।

अमृतलाल गांधी

डा. सुषमा गांग
प्राध्यापक संस्कृत विभाग
जोधपुर विश्व विद्यालय, जोधपुर.

प्रस्तुत ग्रन्थ "कर्म-बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया" में बन्ध की प्रक्रिया का वर्णन करने से पूर्व आत्मा व पुद्गल, दोनों का सम्यक् निरूपण किया गया है। पुद्गलादि के निरूपण प्रसग में उठाये गये प्रश्न तथा जैन मान्यताओं को वैज्ञानिक कसौटी पर कसने का आपका प्रयास शोधार्थियों के लिए महत्वपूर्ण सामग्री

प्रस्तुत करता है। बन्ध की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए बन्ध क्या है? जीव कर्म-बन्ध कैसे करता है? बन्ध के कितने प्रकार हैं तथा कर्म कौन बांधता है? आदि प्रश्नों पर गहन विचार किया गया है। बन्ध की प्रक्रिया का समापन तथा मुक्ति की प्रक्रिया का प्रारम्भ करने के लिए सवर की आवश्यकता तथा निर्जरा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। वस्तुतः प्रस्तुतकृति के रचयिता श्रीमान् चन्दनराजजी मेहता के सतत अध्ययन एवं गहन चिन्तन व मनन की स्पष्ट छाप इस ग्रन्थ में दृष्टिगोचर होती है। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी तथा युवाचार्य महाप्रज्ञजी द्वारा समय समय पर प्राप्त अध्यात्मिक उद्‌बोधनों से प्रेरित होकर श्री मेहताजी ने जैन दर्शन के व्यवहार पक्ष को अपने जीवन में उतारा हैं; एक सद्‌ गृहस्थ श्रावक के रूप में संचित अपने अनुभवों के आधार पर उनके द्वारा सृजित यह ग्रन्थ सम्पूर्ण जैन समाज के लिए पठनीय एवं मननीय विषय-वस्तु प्रदान करता है। इसमें तेरापंथ आद्याचार्य भिक्षु साहित्य, आचार्य तुलसी साहित्य महाप्रज्ञ साहित्य, मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, चरक सहिता, पातञ्जल योग दर्शन आदि अनेकानेक कृतियों तथा पत्र पत्रिकाओं के उल्लेखों, विज्ञान सम्मत लेखों, स्वय मेहताजी के "प्रेक्षा ध्यान" के अनुभवों का संकलन उपलब्ध है। श्री मेहताजी की शैली हृदय-स्पर्शी है और उन्होंने जैन-दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों को अत्यन्त सुगम एवं सरस रूप में प्रस्तुत किया है। इसका श्रेय आचार्य प्रवर तुलसी तथा युवाचार्य महाप्रज्ञजी के चिन्तन के प्रति समर्पित उनके सात्विक जीवन को है। मुझे विश्वास है कि जैन समाज इस परिश्रम साध्य उपयोगी ग्रन्थ द्वारा अवश्य लाभान्वित होगा।

सुषमा गांग

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

卐

पुद्गल द्रव्य

पुद्गल द्रव्य का विश्लेषण करने के पहले यह अध्ययन करना आवश्यक है कि द्रव्य क्या है ? जैन सिद्धान्त विश्व (Universe) को छः द्रव्यों (Substances) से निर्मित मानता है। "गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्" गुण और पर्याय के आश्रय को द्रव्य कहते है। यानि द्रव्य वह वस्तु है जिसमें गुण और पर्याय के लक्षण पाये जाते हैं। लक्षण का अर्थ है पहचान। "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत्" जिसमें पर्याय (Modification) की दृष्टि से उत्पाद–उत्पन्न होना (Manifestation) और व्यय–विनाश (Disappearance) प्रति समय होते रहते हैं और गुणों (Fundamental realities) की दृष्टि से प्रति समय ध्रौव्य–स्थायित्व (Continuity) रहता हो ये तीनों बातें युगपत एक साथ जिसमें घटित होती हैं वही सत् होता है। जो सत् (Existent) हो या जिसकी सत्ता (Existence) हो वही द्रव्य होता है। इसमें उत्पाद और विनाश परिवर्तनशीलता के सूचक हैं और ध्रौव्य नित्यता का सूचक है। परिवर्तनशीलता और नित्यता दोनों साथ रहकर ही सत् (पदार्थ) को पूर्णता देते हैं। केवल उत्पाद, केवल व्यय या केवल ध्रौव्य सत् का लक्षण नहीं बनता। प्रश्न है कि पदार्थ में एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की संगति कैसे बैठ सकती है जब कि ये तीनों विरोधी तत्व हैं। परन्तु यह प्रकृति का नियम है कि इसके बिना पदार्थ की संगति हो ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए जैसे सोना, दूध, पानी आदि सब ध्रुव सत्य हैं। सोने से कड़े, कंगन, अंगूठी आदि आभूषण बनाये जाते हैं। यह उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया है। दूध से दही, खोर आदि बनाए जाते हैं यह भी उत्पाद और विनाश का क्रम है। इसी प्रकार पानी

से बर्फ, भाप बनती है। इन प्रतीकों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य साथ साथ रहते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने त्रिपदी की प्ररूपना की। "उप्पण्णे इवा, विगये इवा, ध्रुवे इवा" पदार्थ उत्पन्न भी होता है, विनिष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। पदार्थ का यही लक्षण बताया गया है। जो सत् है उसका उत्पाद, विनाश और स्थायित्व के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

अविच्छिन्न रूप से द्रव्य में रहने वाला सहभावी धर्म, द्रव्य को त्यागकर अन्यत्र न जा सकने वाला जो स्वभाव है वह गुण कहलाता है। यद्यपि द्रव्य अपनी पूर्व अवस्थाओं को छोड़ता जाता है और अन्य अवस्थाओं को प्राप्त करता जाता है फिर भी वह अपना स्वरूप नहीं त्यागता। उदाहरणार्थ स्वर्णकार कभी सोने की अंगूठी, कभी कंगन तो कभी कड़ा बनाता है, फिर भी स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहता है। परिवर्तन तो केवल उसकी आकृतियों का होता है गुण का नहीं। विज्ञान के अनुसार ब्रह्मांड में उपस्थित पदार्थ की मात्रा अपरिवर्तित रहती है। वैज्ञानिकों के अनुसार किसी वस्तु को न तो नष्ट किया जा सकता है और न ही किसी नयी वस्तु को पैदा किया जा सकता है। किसी भी प्रक्रिया के घटने के पहले और बाद में उपस्थित पदार्थ की मात्रा समान रहती है। केवल पदार्थ के स्वरूप में परिवर्तन होता है। द्रव्य का दूसरा लक्षण पर्याय है। पर्याय का अर्थ है द्रव्य का पूर्व अवस्था का परित्याग कर नई अवस्था को स्वीकार करना। द्रव्य के पर्याय अनन्त होते हैं। द्रव्य छः हैं:—

"धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकाया द्रव्याणि एवं कालश्च"।

१. धर्मास्तिकाय *(Medium of motion of souls, matter and energies)*:— जीव और पुद्गल की गति में असाधारण सहयोग

करने वाला सावयव द्रव्य । यह विश्व की गतिशीलता व सक्रियता में सहायक है । संसार में जो कुछ हलन, चलन, कम्पन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन तक होता है वह सब इसी की सहायता से होता है ।

२. अधर्मास्तिकाय (Medium of rest of souls, matter and energies) – जीव और पुद्गल की स्थिति में असाधारण सहयोग देने वाला सावयव द्रव्य । यह धर्मास्तिकाय का प्रतिपक्षी है । स्थिरता में उसका उपकार है । दूसरे शब्दों में हम इनमें से प्रथम को सक्रियता का सहायक एवं दूसरे को निष्क्रियता का सहायक कह सकते हैं । यद्यपि सक्रियता एव निष्क्रियता वस्तुओं की निजी शक्ति का परिणाम है, तो भी इनके सहयोग के बिना सक्रियता व निष्क्रियता नहीं हो सकती । वर्त्तमान विज्ञान विद्युत शक्ति के दो रूप मानता है– धन (Positive) और ऋण (Negative) । धर्म और अधर्म वही कार्य करते है ।

३. आकाशास्तिकाय (Medium of location of soul etc):- जीव और पुद्गल को अवकाश देने वाला सावयव द्रव्य । आश्रय देने के कारण उपकारी है । यह चराचर जगत उसी के आधार पर टिका हुआ है ।

४. पुद्गलास्तिकाय (Matter and energy):-प्रत्यक्ष रूप में परिवर्तनशील द्रव्य अथवा वह सावयव पदार्थ जिसमें अणुओं का मिलन और विघटन होता रहता है । श्वास निश्वास से लेकर खाने पीने, पहनने आदि सब कार्यों में पौद्गलिक वस्तुए ही काम में आती हैं । शरीर स्वयं पौद्गलिक है । मन, वचन व काया की प्रवृत्ति भी पुद्गलों की सहायता से होती है । आत्माए उनका उपयोग करने वाली हैं ।

५. जीवास्तिकाय (Soul, substance possessing consciousness):- यह चेतनामय सावयव द्रव्य है, असंख्य प्रदेशी पिंड, अविभाज्य व

अमूर्त है ।

६. काल (Time):- यह काल्पनिक द्रव्य है । इसका गुण है वर्तना । यह जीव और पुद्गल सब पर वर्तता रहता हैं । जो समय बीत गया, वह संचित नहीं होता इसलिए इसे निरवयव द्रव्य कहते हैं । काल (समय) से संसार का सारा कार्यक्रम विधिवत् संचालित होता है । यह उसका स्पष्ट उपकार है । समय कभी पिण्डीभूत नहीं होता ।

इन सभी छः द्रव्यों के उपकारों को एकत्र करने से समूचे विश्व (Universe) का संस्थान हमारी आँखों के सामने आता है । छः द्रव्यों में पांच तत्व अजीव हैं और छठा तत्व जीवास्तिकाय सजीव है ।

अचेतन और अमूर्त = धर्म, अधर्म, आकाश, और काल
अचेतन और मूर्त = पुद्गल
चेतन और अमूर्त = जीव

जैसा ऊपर कहा गया है पुद्गल भी एक द्रव्य है जिसकी विस्तार से यहां चर्चा की गई है । पुद्गल शब्द के दो अवयव हैं "पुद्" और "गल" । "पुद्" का अर्थ है पूरा होना या मिलना (Combination) और "गल" का अर्थ है *गलना या मिटना (Disintegration)* । जो द्रव्य प्रति समय मिलता रहे, बनता – बिगड़ता रहे, टूटता – जुड़ता रहे वह पुद्गल है ।

"पूरण गलनधर्मत्वात् पुद्गलः" जिसमें पूरण-एकीभाव और गलन-पृथकभाव होता है वह पुद्गल है । यह इसका शाब्दिक अर्थ है । यह भी कहा गया है, "स्पर्शरसगन्धवर्णवान पुद्गलः" जो द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त होता है वह पुद्गल है । यह

पुद्गल का स्वरूप है। सरल शब्दों में जो देखा जा सके, सूंघा जा सके, चखा जा सके और जिसका स्पर्श किया जा सके वह पुद्गल है। पुद्गल रूपी है इसलिये इन्द्रिय ग्राह्य है।

"शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतप्रभावांश्च"– शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तप, छाया, आतप, उद्योत, प्रभा आदि भी पुद्गल के लक्षण हैं। पर ये ऐसे लक्षण नही हैं जिनके बिना पुद्गल को पहचाना नहीं जा सके परन्तु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये पुद्गल के अपरिहार्य लक्षण है। जहाँ पुद्गल हैं वहां इन लक्षणों की विद्यमानता अवश्य ही होगी। शब्द, बन्ध आदि तत्व भी पुद्गल के लक्षण हैं पर जहां पुद्गल विद्यमान हों वहां इन लक्षणों का होना आवश्यक हो इस प्रकार की अपरिहार्यता नहीं है। पहचान के लिए जो हेतु हैं वे ही उसके लक्षण हैं।

पुद्गल एक आस्तिकाय है जिसका अर्थ है "आस्तिअभूत-भविष्यति इति आस्तिकाय:" जो है, था और होगा वह त्रैकालिक सत्तावाला सावयव द्रव्य अर्थात् प्रदेशों का समूह और यह आस्ति-काय की महत्वपूर्ण इकाई है। इतना ही नहीं इस जगत में प्रत्यक्ष रूप में प्राणी के सम्पर्क में आनेवाली दृश्य और श्रव्य यदि कोई चीज है तो वह पुद्गल ही है। वैज्ञानिक इसके लिए "मैटर" (Matter of energy) शब्द का प्रयोग करता है, जैनेत्तर दार्शनिक इसके लिए "भौतिक तत्व" कहता है एवं जैन दर्शन में इसके लिए पुद्गल शब्द का उपयोग किया गया है। इस संसार में जीव और पुद्गल दो मुख्य द्रव्य हैं क्योंकि उन्हीं के मिलन से इस सृष्टि में जीव का अस्तित्व देखने में आता है। कोई भी जीव पुद्गल के सम्पर्क में आए बिना संसार में नही ठहर सकता। जीव को पुद्गल के सहवास से छुटकारा भी मिल सकता है परन्तु तब मिलता है जब

ह संसार के बन्धनों से छूट जाता है। पुद्गल की आकृति छोटी हो सकती है और बड़ी भी, वह हल्का हो सकता है और भारी भी। इस प्रकार हम देखते हैं कि छोटा-बड़ा, हलका-भारी, लम्बा-चौड़ा, गन्ध-भेद, आकार-प्रकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया आदि ये सब पुद्गल होने के रूप माने जाते हैं। ऐसा व्यापक रूप से मानना जैन तत्व-ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। यह चेतन का प्रतिपक्षी तत्व है।

पुदगल की परिभाषा इस तरह भी की गई हैं:- "पूरणगलनान्वर्थ संज्ञातवात् पुद्गल:" जो भेद और संघात से मिलते और बिखरते हैं वे पुद्गल हैं। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता हैं और पुन: परस्पर सम्बद्ध भी। "पुमांसोजीवा: तैः शरीराहार विषयकारणोपकारिणादि भावेत् गिल्यन्त इति पुद्गला:" जिसको शरीर, आहार, विषय, उपकरण आदि के रूप में जीव ग्रहण करे, वही पुद्गल है। द्रव्य की दृष्टि से पुद्गल अनन्त हैं। क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि वह सम्पूर्ण लोक में हैं। काल की अपेक्षा से वह आदि अन्त रहित है। पुद्गल अखण्ड द्रव्य नहीं हैं इसलिये सब से छोटा रूप एक अणु है और सब से बड़ा रूप है विश्व व्यापी अचित महास्कन्ध। अचित महास्कन्ध तब होता है जब केवली समुद्घात करते है। कई ऐसे पुद्गल हैं जिन्हें उत्पतिकारक माना गया है। जिस वस्तु की उत्पति होती है उसका विनाश भी होता है। इस कारण उनका विनाश भी होता है। संघात और भेद के कारण वे घटते बढ़ते भी हैं। उत्पन्न और नष्ट होते हुए भी ये पुद्गल अपना ध्रौव्यरूप का परित्याग नहीं करते। अन्य कुछ पुद्गल ऐसे भी हैं जिन्हें उत्पत्तिकारक नहीं माना गया है। उत्पत्तिकारक न होने के कारण उनका विनाश भी नहीं होता। ऐसे पुद्गल तीनों काल में शाश्वत हैं। वे न तो घटते हैं और न ही वे

बढते हैं। पुद्गल हमारे लिए बहुत उपयोगी हैं, पर बहुत से पुद्गल ऐसे भी हैं जिनको सम्पर्क में न आने से हम काम में नहीं ले सकते। पुद्गल ही नहीं, ऐसे अनन्त अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी हैं जिनका हमारे लिए सीधा कोई उपयोग नही है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है— स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार पुद्गल के अपरिहार्य लक्षण हैं। इनका विवेचन यहां दिया जाता है:—

स्पर्श:— स्पर्श के आठ प्रकार बतलाए गए है:— शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, कर्कश और मृदु। इनमें प्रथम चार स्पर्शमूलक हैं, शेष चार स्पर्श सापेक्ष हैं। इन आठ स्पर्शों के चार युगल स्पर्श बनते हैं। जैसे शीत-उष्ण(ठंडा-गरम), स्निग्ध-रुक्ष (चिकना-रुखा), लघु-गुरु(छोटा-बड़ा), मृदु-कर्कश(मीठा-कटु)।

पुद्गल के एक स्कन्ध (Molecule) में एक साथ, स्निग्ध और रुक्ष में से कोई एक, मृदु और कठोर में से कोई एक, शीत और उष्ण में से कोई एक, तथा लघु और गुरु में से कोई एक, ऐसे कोई चार स्पर्श अवश्य पाये जाते हैं लेकिन अणु (Ultimate atom) में स्निग्ध और रुक्ष में से कोई एक तथा शीत और उष्ण में से कोई एक, ऐसे दो स्पर्श ही पाये जाते हैं क्यों कि वह पुद्गल का सूक्ष्मतम अंश है अतः उसके मृदु या कठोर और लघु या गुरु होने का प्रश्न ही नहीं उठता। चार स्पर्श जो सापेक्ष हैं वे कैसे बनते हैं उनका वर्णन यहां किया जाता है :—

१. रुक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श बनता है।
२. स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से गुरु स्पर्श बनता है।
३. शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श बनता है।

४. उष्ण और रुक्ष स्पर्श की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है।

इस प्रकार चार सूक्ष्म स्पर्श की बहुलता से अन्य चार स्थूल स्पर्श बनते हैं। यानि चार सूक्ष्म स्कन्ध बादर स्कन्ध बन जाते है। इस व्यवस्था को श्रीमद् जयाचार्य ने राजस्थानी भाषा में प्रश्नोत्तर के रुप में इस तरह व्यक्त किया है:—

प्रश्न:- शीत उष्ण निधे[1] रुक्ष रे सूक्ष्म ए चिहुं मूलगा।
अन्य चिहूं ककखड़[2] प्रमुख रे ते किम बादर नीपजे ?
उत्तर:- लूख[3] फर्श नी जाण रे बहुलताई करी हुए लघु।
निध तणी पहचानी रे, बहुलताई करी हुए गुरु ॥
शीत-स्निग्ध नी जोय रे, बहुलताई हुए मृदु।
उष्ण-रुक्ष होय रे, बहुलताई सु खरदरो ॥

मूल चार स्पर्श वाले स्कन्ध अगुरुलघु ही होते हैं जैसे उच्छ्वास, कार्मण(शरीर), मन और भाषा के पुद्गल स्कन्ध परन्तु अष्टस्पर्शी स्कन्ध गुरु लघु होते है। कार्मण शरीर जो अगुरुलघु ही होता है, उसे छोड़कर शेष चार शरीरों के पुद्गल स्कन्ध गुरु-लघु होते हैं। व्यवहार दृष्टि से पदार्थ गुरु, लघु, गुरु-लघु, अगुरु-लघु, चार प्रकार के होते हैं। पत्थर गुरु है, दीप शिखा लघु है, हवा गुरु-लघु है, आकाश अगुरु-लघु है। परन्तु निश्चय दृष्टि से न तो कोई द्रव्य सर्वथा लघु है और न सर्वथा गुरु।

कई ग्रन्थों में स्पर्श के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं:—
उष्ण स्पर्श मृदुता व पाक करने वाला होता है।
शीत स्पर्श निर्मलता व स्तम्भित करने वाला होता है।

---

१. निधे-स्निग्ध। २. ककखड़-कर्कश। ३. लूख-रुक्ष।
गुरु-बड़ा। लघु-छोटा।

स्निग्ध स्पर्श संयोग होने का कारण है ।
रुक्ष स्पर्श संयोग नहीं होने का कारण है ।
लघु स्पर्श उर्ध्व गमन व तिर्यग गमन का कारण है ।
गुरु स्पर्श अधोगमन का कारण है । मृदु स्पर्श नमन का कारण है।
कर्कश स्पर्श अनमन का कारण है ।

रस :— रस के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं — तिक्त, कटु, कषायला, आम्ल और मधुर । सौठ का स्वाद तिक्त (तीखा चरपरा) और नोम का रस कटु होता है । हरड या आंवला कषायला होता है. इमली का रस आम्ल (खट्टा) और चीनी का स्वाद मधुर (मीठा) होता है । यद्यपि इन विभिन्न रसों के मिश्रणों से नये रसों की निष्पत्ति हो सकती है पर इनके गौण होने के कारण इन्हें ग्रहण नहीं किया गया । रसों का ग्रहण रसना (जिह्वा) करती है इसलिए इन्हें रसनेन्द्रिय विषय(भोग) के रुप में स्वीकार किया गया है । संसार में जितने प्राणी हैं, इनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों को छोड़कर सब जीवों के रसनेन्द्रिय होती है । जैसे-जैसे प्राणी में चेतना विकसित होती जाती है, इस बोध की क्षमता भी बढती जाती है ।

गंध:— गंध दो प्रकार के बतलाए गए हैं– सुगन्ध व दुर्गन्ध । मनोज्ञ परिमल को सुगन्ध कहा जाता है और अमनोज्ञ परिमल को दुर्गन्ध । कौनसी गन्ध मनोज्ञ होती है और कौनसी अमनोज्ञ- इसके लिए कोई एक निश्चित मर्यादा नहीं है क्योंकि एक ही गन्ध किसी के लिए मनोज्ञ हो सकती है और किसी के लिए अमनोज्ञ । एक चर्मकार रात-दिन चमड़े के जूते बनाने के कारण चमड़े की गन्ध के बोच में रहता है परन्तु चमड़े की गन्ध उसे दुर्गन्ध नहीं मालूम होती । हाँ,अन्य व्यक्ति को वह गन्ध असह्य हो जाती है क्यों कि वह उसके लिए दुर्गंध है ।

वर्ण(रंग):— इनके पाँच प्रकार हैं-कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत। इन रंगों के संयोग से अनेक रंग उत्पन्न हो सकते है। उन संयोग-जन्य रंगों की संख्या का कोई निर्धारण नहीं है। संसार मे जितने दृश्य पदार्थ हैं, जिनको हम देख रहे हैं उन सब में ये पाँचों वर्ण विद्यमान रहते है। फिर भी जिस पदार्थ में जिस रंग की प्रमुखता होती है, वह वैसा ही दिखाई देता है और उसके आधार पर हम उसे काला, नीला, लाल, पीला सफेद आदि कह देते हैं।

पुद्गल के ये २० लक्षण न्यूनाधिक रुप में प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ में उपलब्ध हैं क्योंकि ये पुद्गल के अपरिहार्य लक्षण हैं। यहां तक कि इनकी न्यूनतम उपलब्धि परमाणु, जो कि पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है और दृश्य होने पर भी उसे इन चर्म चक्षुओं से देख नहीं सकते, उसमें भी होती है। वहां एक वर्ण, एक रस, एक गंध और दो स्पर्श पाये जाते हैं। बीसों गुणों की एक साथ उपलब्धि अनन्त प्रदेशिक बादर स्कन्ध में होती है। हर बादर स्कन्ध में ये बीस लक्षण एक साथ हो यह अनिवार्य नहीं है पर ऐसा कोई परमाणु या स्कन्ध नही होगा जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श न हो।

उपरोक्त चार अपरिहार्य लक्षणों के सिवाय कुछ लक्षण ऐसे हैं जिनके लिए जहां पुद्गल हों वहां उनको होना ही पड़े ऐसी अपरिहार्यता नही है जैसे शब्द, बंध, सौक्ष्म्य आदि का विवेचन उल्लेखनीय है। उनकी व्याख्या यहाँ दी जाती है :—

शब्द:— एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि होती है वह शब्द है। शब्द के तीन प्रकार हैं:— जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। हृदय, कण्ठ, सिर, जिह्वा मूल, दांत, नासिका, होंठ और तालू ये आठ स्थान है जहां से शब्द की

उत्पत्ति होती है। इन आठों स्थानों का सीधा सम्बन्ध जीव से है, इसलिए इनसे होने वाला जीव शब्द कहलाता है। पुद्गलों के संघर्षण से जो ध्वनि होती है वह अजीव शब्द है। वीणा, झालर, ताल, कांस्य शब्द अजीव शब्द हैं। खटपट करना, चुटकी बजाना, पांव पटकना आदि क्रियाओं से जो शब्द होता है, वह भी अजीव शब्द है। उपर्युक्त आठ स्थानों और वाद्यों का योग होने पर जो शब्द निकलता है, वह मिश्र शब्द है। अब प्रश्न यह है कि शब्द का उपयोग क्या है? शब्द सार्थक भी होते हैं और निरर्थक भी। निरर्थक शब्दों का कोई उपयोग नहीं होता। पर सार्थक शब्द फिर चाहे, वे शब्दात्मक हों या ध्वन्यात्मक, प्राणी जगत की भावना को अभिव्यक्त करते हैं। समूह चेतना में एक दूसरे को समझने के लिए शब्द ही एक सशक्त माध्यम बनता है। शब्द इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत होते हैं, इसलिये वे पुद्गल हैं। पुद्गलों के मिलने और बिछुड़ने से शब्द पैदा होते हैं। दो कपाट मिलते हैं या खुलते हैं तो शब्द होता है। वस्त्र को बनाते समय व फाड़ते समय भी शब्द होता है। किसी पात्र को जल या दूध से भरते समय या खाली करते समय भी शब्द होता है। वस्त्र पहनते समय भी शब्द होता है व उतारते समय भी इन सब उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि शब्द की उत्पत्ति में पुद्गलों का भेद और संघात प्रमुख कारण है।

ध्वनि शब्द में पौद्गलिकता का विद्यमान होना जरूरी है। यह जैन दर्शन की महत्वपूर्ण देन है, जो विज्ञान सम्मत है। जब से रेडियो ने ध्वनि-तरंगों को पकड़ना शुरु कर दिया, जैन दर्शन की शब्दावली में भाषा-वर्गणा के पुद्गलों को पकड़ना शुरु कर दिया, तब से ध्वनि शब्द की पौद्गलिकता असंदिग्ध रूप में प्रमाणित हो गई। जैन दर्शन का एक अभिमत यह भी है कि जब कोई व्यक्ति

तीव्र प्रयत्न से बोलता है तो उसकी भाषा वर्गणा के पुद्गल सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इन शब्दों की ध्वनि यंत्र के सहारे हजारों मील की दूरी पर पकड़ ली जाती है। कुछ वैज्ञानिक तो यह भी दावा करते हैं कि हजारों वर्ष पहले बोले हुए शब्द भी आज इस वायुमण्डल में उपस्थित हैं। ऐसी स्थिति में जैन दर्शन में ध्वनि शब्द के सम्बन्ध में जो विश्लेषण प्राप्त होता है उसे युक्ति-युक्त और विज्ञान-सम्मत कहने में कोई कठिनाई नहीं है।

बन्धः— सश्लेष अर्थात मिलने को, जुड़ने को, संयुक्त होने को बन्ध कहते हैं। दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है। इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओं का एक या एक से अधिक स्कन्धों के साथ भी बन्ध होता है। पुद्गल परमाणुओं (कार्मण) का जीव द्रव्य के साथ भी बन्ध होता है। यह भी दो प्रकार का होता है। जब दो विभिन्न जाति के अणु मिलकर एक नयी वस्तु का निर्माण करते हैं उसे यौगिक कहते हैं। जैसे हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और आक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर जल का एक अणु बनता है ($H_2 + O$=पानी)। तथा जो नई वस्तु का निर्माण नही करते वे मिश्रण कहलाते हैं जैसे बारूद।

सौक्ष्म्यः—अन्तिम सूक्ष्म जैसे परमाणु। आपेक्षिक सूक्ष्म जैसे नारियल की अपेक्षा आम छोटा होता है।

स्थौल्य- -अन्तिम स्थूल जैसे समूचे लोक में व्याप्त होने वाला अचित महास्कन्ध। आपेक्षिक स्थूल जैसे आम की अपेक्षा नारियल बड़ा होता है।

संस्थान - संस्थान का अर्थ है आकार। जीव का कोई आकार नही होता। इसलिए इसमें कोई संस्थान नही होता। अजीव के पाच भेद हैं जिनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार अरूपी

हैं। रूप के बिना आकार नहीं होता। केवल पुद्गल तत्व ही ऐसा बचता है जो रूपवान और आकारवान है। यह पुद्गल का गुण तो नहीं है केवल लक्षण है। पुद्गल के पांच संस्थान बतलाए गए हैं:— वृत, परिमण्डल, त्रिकोण, चतुष्कोण और आयात। ये पांचों संस्थान पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं होते। इसलिये ये पुदगल के गुण तो नहीं किन्तु उसके लक्षण के रूप में स्वीकृत हो सकते हैं। जैन शासन के लिये "संस्थान" शब्द काम में लिया गया है। "जैन शासन एक संस्थान है, एक वस्तु है। उसमें प्रकाश और तापमान दोनों आवश्यक है। वह जीवित इसलिए है कि इसमें ये दोनों हैं"।

भेद:— विश्लेष को भेद कहते हैं। वे पांच प्रकार के हैं:— जैसे मूंग की फली का टूटना, गेऊँ आदि का आटा, पत्थर के टुकड़े, अभ्रक के दल, तालाब की दरारें आदि।

तम:—पुद्गलों का सघन कृष्ण वर्ण के रूप में जो परिणमन विशेष होता है, उसे तम (अन्धकार) कहते हैं।

छाया:—पुद्गलों का प्रतिबिम्ब रूप परिणमन होता है, उसे छाया कहते हैं।

आतप:—सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं।

उद्योत:—चन्द्रमा आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

प्रभा:—रत्न आदि की रश्मियों को प्रभा कहते हैं।

उपरोक्त पुद्गल के ग्यारह लक्षणों की व्याख्या दिये जाने के बाद पुद्गल के चार भेदों की व्याख्या की जाती है।

पुद्गल के चार भेद:—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु।

स्कन्ध: (Molecule) परमाणुओं के एकीभाव होने को

स्कन्ध कहते हैं। जैसे दो परमाणुओं के मिलने से जो स्कन्ध बनता है उसे द्विप्रदेशी स्कन्ध कहते हैं। इसी प्रकार तीन प्रदेशी, दश प्रदेशी, सख्येय प्रदेशी (Countable) असंख्येय प्रदेशी (Uncountable) और अनन्त (Infinite in number) प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। परमाणुओं के समूह आबद्ध होकर संख्यात्, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी स्कन्धो का निर्माण करते हैं।

भेद से होने वाले स्कन्ध:—जैसे एक शिला, उसके टूटने से अनेक स्कन्ध बनते हैं।

सघात से होने वाले स्कन्ध.—जैसे एक जन्तु, कई तन्तुओं के जुड़ने से एक स्कन्ध बनता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य उमा स्वामी ने कहा है:—"भेदसंघाताभ्यां उत्पद्यन्ता भेदादणु" "भेदसंघाताभ्यां चाक्षुसः", "स्निग्ध रुक्षत्वाद् बन्धः" "न जघन्य गुणानाम, "गुण साम्ये सदृशानाम् द्वयाधिकादिगुणानतु" अर्थात् स्कन्धों के भेदन (तोड़ने) से अणु तथा अणुओ को सहित करने (जोड़ने) से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। यह क्रिया स्निग्ध और रुक्षत्वंशों के निमित्त से ही होती है लेकिन जघन्य शक्त्यंशों से नहीं। जैसे तेल में पानी नही मिलता। वैसे सामान शक्त्यंशों में भी बन्ध नही होता। जैसे माना कि दो आटा के अणु हैं वे तब तक नही मिलेंगे जब तक कि दो कम शक्त्यंशवाली अन्य वस्तु न मिले। यदि उनके बीच में मात्रानुसार पानी मिला दिया जाय तो उनका बन्ध हो जाएगा। यही कारण है कि आटा गूंधते समय आटा मे आधे या उससे भी कम भाग पानी की जरूरत होती है। यही अर्थ 'द्वयधिकादि' सूत्र से स्पष्ट होता है। यदि समान भाग पानी मिला दिया जाए तो पिण्डीभूत नही होगा। दोनों पृथक पृथक आटों के परमाणु समान गुण होने से किसी कम मात्रा

वाले माध्यम के विना नहीं बंध सकते। यह अर्थ है "गुण साम्ये सदृशानाम्" का। आज की भाषा में इन शक्त्यंशों को हम इलेक्ट्रॉन कह सकते हैं। क्योंकि आज वैज्ञानिक भी यही तथ्य वतलाते है कि जिस परमाणु के कक्ष में कम इलेक्ट्रॉन होगा किंवा समान होंगे तो एक परमाणु के इलेक्ट्रॉन दूसरे परमाणु के इलेक्ट्रॉन के कक्ष में चले जाएंगे और आपस में वन्ध जाएंगे।

आणविक वल का प्रभाव समझाने के लिए वैज्ञानिक कहते हैं कि जब पदार्थों में आणविक दूरी कम होती है तो आणविक वल अधिक रहता है। इसलिए हम ऐसी वस्तु को तोड़ना चाहे तो हमें अधिक वल का प्रयोग करना पड़ता है। लोहे का एक ठोस पिण्ड हमारे अत्याधिक वल लगाने पर ही टूटता है क्योंकि उसमें आण-विक वल अधिक रहता है। इसके विपरीत जब पदार्थों में आणविक दूरी अधिक होती है तो उसे तोड़ने में अधिक बल का प्रयोग नहीं करना पड़ता। इसका उदाहरण एक लकड़ी को तोड़ना है।

देश:—वस्तु के काल्पनिक भाग को देश कहते हैं।

प्रदेश:—वस्तु के सलग्न परमाणु जितने भाग को प्रदेश कहते हैं।

परमाणु:—स्कन्ध से पृथक निरंश तत्व को परमाणु कहते हैं। परम+अणु=परमाणु। पुद्गल द्रव्य की इकाई परमाणु है। परमाणु सर्व सूक्ष्म होता है। इसलिए अविभाज्य है। स्वतन्त्र परमाणु को नग्न आखों से नहीं देखा जा सकता, लेकिन पुद्गल समूह को देखा जा सकता है। प्रत्येक परमाणु में अनन्त गुण धर्म होते हैं। इनमे दो विशिष्ट गुण होते हैं, जिन्हें शक्त्यंश कहते हैं। ये गुण हैं रुक्षता एवं स्निग्धता। ये दोनों गुण सापेक्ष होते हैं।

परमाणु और प्रदेश में इतना ही अन्तर है कि प्रदेश (परमाणु के आकार जितना होने पर भी) वस्तु से संलग्न रहता है और परमाणु स्वतन्त्र रहता है। परमाणु पृथक-पृथक हो सकते हैं और समुहित होकर पुनः स्कन्ध रूप में परिणत भी हो सकते हैं।

परमाणु अकेला ही होता है और निरंश होता है इसलिए उसमें प्रदेश नहीं होता। परमाणु लोक के एक प्रदेश में रहता है। पुद्गल स्कन्ध अनेक प्रकार के हैं जैसे द्विप्रदेशी, संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी, यावत अनन्त प्रदेशी तक के यथोचित रूप से एक प्रदेश से लेकर समूचे लोक तक व्याप्त हैं। सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु और स्कन्ध सभी सूक्ष्म रूप में परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त पुद्गल रह सकते हैं। इसका एक मात्र कारण है कि पुद्गल में संकोच और विस्तार की अपूर्व शक्ति है। जैसे जितने क्षेत्र में एक दीपक का प्रकाश पर्याप्त होता है, उतने क्षेत्र में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है। पुद्गल की तरह जीव ऐसा नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव स्वाभाविकतया कम से कम लोकाकाश के असंख्यातवें भाग को अवगाह कर रहता है। वह असंख्यातवां भाग भी असंख्य प्रदेश वाला होता है। जीवों में उससे अधिक संकुचित होने का स्वभाव नहीं है अतः वे पुद्गल की तरह एक प्रदेश परिमाण वाले क्षेत्र में यावत संख्यात प्रदेशात्मक क्षेत्र में भी नहीं रह सकते।

पुद्गल में अनन्त शक्ति (Enegry) होती है। एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो काल के सबसे छोटे अंश अर्थात एक समय (Time point) में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंच सकता है। यहां बैठे बैठे हम अमेरिका, रूस आदि

विदेशों के समाचार सुन लेते है, इसका कारण ध्वनि (शब्द) के पुद्गलों की गति है। यन्त्र तो मात्र ध्वनि के पुद्गलों को व्यवस्थित रूप से पकड़ने का काम करते है। जीव व पुद्गल में गति व स्थिति के रहस्य को समझने के लिए धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है। जीव और पुद्गलों की गति में हलन-चलन आदि में जो सहायक होता है उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे मछली की गति में पानी सहायक होता है। उसके विपरीत स्थिर रहने में जो सहायक होता है उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। दोनों अनन्त-प्रदेशी है, त्रिकाल स्थायी है, सकल लोक व्यापी हैं, ध्रुव हैं, नित्य है, शाश्वत हैं और अरूपी है। धर्म और अधर्म दोनों विश्व को क्रमशः गति शील और स्थिर रखते हैं और उसे अव्यवस्था में गिरने से बचाये रखते हैं। विश्व में परिवर्तन होते रहते हैं। परिवर्तन का आधार काल है। काल काल्पनिक द्रव्य है। काल का सूक्ष्म भाग समय है। काल का आया हुआ समय चला जाता है, नष्ट हो जाता है, अतः काल के प्रदेश भी नहीं होते।

भौतिक पदार्थ जितने भी है उनमें जो परिवर्तन हम देख रहे हैं वह सब पुद्गलों के मिलने-बिछुड़ने के ही कारण है। जैसे रूई के पुद्गलों से तार बनते हैं। वे वस्त्र जीर्ण शीर्ण होने पर कूड़ा-करकट के रूप मे परिणत हो जाते हैं और खाद बनकर खेतों में पुनः डाले जाते है। कालान्तर मे वे ही पुद्गल खेत में अनुकूल बीज, हवा, पानी पाकर कपास, अनाज, फल व सब्जी आदि के रूप में दुनिया के सामने आते हैं। पुद्गल अशब्द होते हुए भी इसके द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है। हम अपने चारों ओर जो भी जड़ वस्तुएं जैसे काठ की मेज, लोहे की कुर्सी, पीतल के बर्तन, प्लास्टिक का सामान, गत्ते की फाइलें आदि देखते है वे सभी चीजें पुद्गल निर्मित हैं यहां तक कि हमारा निजी शरीर भी पौदगलिक है।

अन्य जीवों के साथ भी पुद्गल का घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि वह अनेक प्रकार से उनके प्रयोग में आता है। 'द्रव्यनिमित्त हि संसारिणां वीर्यमुपजायते', अर्थात् संसारी जीवों का जितना भी वीर्य-पराक्रम है वह सब पुद्गलों की सहायता से निर्मित है।

पुद्गल किस प्रकार संसारी जीवों के व्यवहारिक रूप से प्रयोग में आते है, उसे समझने के लिए भिन्न २ वर्गणाओं को जान लेना जरूरी है। जो पुदगल हमारे काम आते हैं उनकी पहचान यहां वर्गणा शब्द से कराई गई है। वर्गणा का अर्थ है विभिन्न प्रकार के वर्ग या श्रेणियां। यह विभाजन उनके द्वारा होने वाले स्थूल पदार्थों के आधार पर किया गया है।

वर्गणायें यह हैं:—

१. औदारिक वर्गणा—स्थूल शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु। जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतियों में भी जीव है। इनके रूप में प्रतीत होने वाले स्थूल पदार्थ उन जीवों के शरीर हैं। यह शरीर कहीं सजीव दिखाई देता है और कहीं निर्जीव। इसे औदारिक शरीर माना गया है। इसी प्रकार पशु-पक्षी तथा मनुष्यों का शरीर भी औदारिक है।

२ वैक्रियक वर्गणा-देवता तथा नारकीय जीवों के शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु। योगी अपनी योग-शक्ति के द्वारा जिस शरीर की रचना करते हैं वह भी इन परमाणुओं से बनता है।

3 आहारक वर्गणा-विचारों का संक्रमण करने वाले शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु।

४ भाषा वर्गणा-वाणी के रूप में परिणत होने वाले परमाणु।

५ मनो वर्गणा—मनोभावों के रुप में परिणत होने वाले परमाणु ।

६ श्वासोच्छवास वर्गणा—प्राण वायु के रुप में परिणत होने वाले परमाणु ।

७ तैजस वर्गणा—तैजस नामक सूक्ष्म शरीर के रुप में परिणत होने वाले पुदगल परमाणु ।

८ कार्मांण वर्गणा—कार्माण या लिंग शरीर के रुप में परिणत होने वाले परमाणु । कार्मण शरीर का अर्थ है आत्मा के साथ लगे हुये कर्म पुद्गल । ये हो जीव को विविध योनियों में ले जाकर स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं और सुख दुख का भोग कराते है । सांख्य दर्शन मे जो स्थान लिंग शरीर का है वही जैन दर्शन में कार्माण शरीर का है ।

आठ वर्गणाओं में से वैंक्रियक और आहारक का देवता, नारकी या योगियों के साथ सम्बन्ध है । शेप छः हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं । इन वर्गणाओं में सव से स्थूल वर्गणा औदारिक है और सव से सूक्ष्म कार्माण है । संख्या की दृष्टि से सूक्ष्म वर्गणा में स्थूल वर्गणा से अधिक परमाणु होते है । सर्व वर्गणाएँ अनन्त प्रदेशी स्कन्ध है । इनमें श्वासोच्छवास, मन, वचन और कर्म (कार्माण) वर्गणा के अतिरिक्त शेप सव वर्गणाएं अष्ट स्पर्शी हैं । ये वर्गणाएँ पूरे लोक में व्याप्त हैं किन्तु इनका प्रयोग तभी सम्भव हो सकता है जव ये जीव द्वारा ग्रहीत हो जाएं । संसार का कोई प्राणी इन वर्गणाओं में से अपने योग्य वर्गणाओं के योग के विना अपना काम सम्पादन नहीं कर सकता । वह हर क्षण नई वर्गणा का या तो स्वीकार करता है या परिणमन या विसर्जन करता है ।

हरेक पुद्गल में दो पहलू होते हैं–एक पक्ष का और दूसरा प्रतिपक्ष का होता है। उदाहरणार्थ सफेद का काला, मीठा का कड़वा, सुगन्ध का दुर्गन्ध, शीत का उष्ण आदि। पुद्गल में इस प्रकार के दो विरोधी तत्वों को देखकर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए कहा :—

इयं विरुद्धं भगवान् । तव नान्यस्य कस्यचित ।
निग्रन्थता परा य च, या चोच्चैश्च चक्रवर्तिता ॥

भगवन् ! तुम्हारे जीवन में दो विरोधी बातें मिलती हैं। प्रभो! दो विरोधी युगल आपमें दृष्टिगोचर होते हैं–उत्कृष्ट निग्रन्थता और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व। यह विशेषता आपके सिवाय कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। एक ओर आप उत्कृष्ट निग्रन्थ व दूसरी ओर आप उत्कृष्ट चक्रवर्ती। कितना विचित्र वैषम्य है। अपने जीवन में आपने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि सच्चा चक्रवर्ती अकिंचन है। सम्राट बनना, धन-वैभव सम्पन्न बनना भगवान को पसन्द नहीं था। उन्हें पसन्द था निग्रन्थता स्वीकार कर अकिंचन बनना।

भगवान महावीर ने दो परस्पर विरोधी तत्वों को आत्मसात कर विश्व के सामने एक आश्चर्यपूर्ण आदर्श प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकार वैज्ञानिकों की भी विश्व को देन है दो विरोधी तत्वों को खोजकर एक नया तत्व निकालना। वह है इलेक्ट्रॉन जो एक ऋणावेशी कण है। दूसरा है इसके विपरीत प्रोटॉन् (प्रति-इलेक्ट्रॉन) जो एक धनावेशी कण है। इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन कणों का एक जोड़ा-प्रतिकण! प्रतिद्रव्य! इन्हीं की देन है।

इस तरह यह समूचा दृश्य जगत पौद्गलिक है। जीव की

समस्त सांसारिक अवस्थाएं पुद्गल निमित्तक है । प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास और भाषा ये सब पौद्गलिक है । मानसिक चिन्तन भी पुद्गल सहायापेक्ष है क्योंकि चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण मे भाषा वर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण करता है ।

परमाणु पर विशेष चर्चा—

अचेतन द्रव्यों मे पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जिसमें मिलन तथा पृथक होने की प्रक्रिया होती है । धर्म व अधर्म लोक में अवस्थित है और उनमें मिलन गलन की कोई प्रक्रिया नहीं है । यही स्थिति आकाश की है यद्यपि वह अलोक में भी विस्तृत है । काल की इकाई समय है और वह वर्तमान, अतीत और अनागत के साथ पुद्गल की भांति आबद्ध नही होता ।

पुद्गल की गलन-मिलन की परिभाषा अन्य द्रव्यों से भिन्नता का बोध तो कराती है लेकिन स्वयं के स्वरुप का यथार्थ वर्णन नहीं कर पाती । पुद्गल का प्रथम स्वरूप परमाणु है ।

संदर्भ सूत्र—

१. जीव अजीव, जैन दर्शन मनन और मीमांसा लेखक युवाचार्य महाप्रज्ञ ।
२ जैन सिद्धान्त दीपिका, दर्शन के परिपार्श्व में ३८, ६३
लेखक आचार्य श्री तुलसी ।
3. द्रव्य एक अनुचिन्तन-लेखक श्री राजेन्द्रकुमार जैन, आयुर्वेदाचार्य ।
४. जैन दर्शन में मानववादी चिन्तन—लेखक श्री रतन कायड़ ।
५. दर्शन और विज्ञान के आलोक में पुद्गल और द्रव्य—
लेखक श्री गोपीलाल अमर—(मुनि श्री हजारीमल ग्रन्थ) ।

परमाणु में मिलन की प्रक्रिया तो होती है और स्कन्ध भी बनते हैं परन्तु इसमें गलन नहीं होता। परमाणु अविभाज्य है। स्कन्ध में गलन मिलन की परिभाषा पूर्णतया फलित होती है। छोटे-छोटे स्कन्ध एकीभाव से बड़े स्कन्ध बनते हैं तथा टूटकर वापस स्कन्धों में परिवर्तित हो जाते हैं। पुद्गल की गलन–मिलन की परिभाषा पुद्गलास्तिकाय द्रव्य को तो समझा पाती है क्योंकि अस्तिकाय का अभिप्राय बहुप्रदेश से है अर्थात् स्कन्धों से है। धर्म, अधर्म तथा आकाश बहु प्रदेशी, अविभागी तथा अखंड है। उनका कोई एक प्रदेश, पुद्गल के एक परमाणु की भाँति स्वतन्त्र नहीं है। अतः परमाणु की तुलना अन्य अचेतन पदार्थों की सूक्ष्मतम इकाई से नहीं हो सकती। ऐसा लगता है कि पुद्गल द्रव्य अपने प्रथम स्वरूप परमाणु को ही अपनी परिभाषा (मिलन–गलन) में नहीं समेट रहा है।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत, प्रभा आदि भी पुद्गलास्तिकाय में ही होते हैं। ये अवस्थाएँ भी स्कन्ध की ही प्रतीत होती हैं और ये पुद्गल के लक्षण भी हैं क्यों कि १) शब्द पुद्गल स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होना है न कि परमाणु के द्वारा। २) सूक्ष्म और स्थूल भी आपेक्षिक हैं और स्कन्धों में ही सम्भव हैं। परमाणु न तो सूक्ष्म है और न स्थूल। ३) पाँच संस्थान (वृत, परिमण्डल, त्रिकोण, चतुष्कोण और आयत) का जो वर्णन है वह भी स्कन्ध का ही है। परमाणु का कोई संस्थान नहीं है।

केवल बन्ध ही एक ऐसी अवस्था है जो स्कन्ध और परमाणु दोनों पर लागू होती है। सन्देह होना सहज है कि कहीं परमाणु परस्पर में बन्ध ही न करते हों। अगर यह सही है तो यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि परमाणु का न तो संयोग होता है और न

वियोग। फलस्वरूप मिलन-गलन की परिभाषा केवल पुद्गलास्तिकाय की रह जायगी और परमाणु इस परिभाषा से मुक्त हो जाएगा।

यह स्पष्ट है कि जो द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त होता है वह पुद्गल है। ये पुद्गल के चार अपरिहार्य लक्षण हैं यानि जहां पुद्गल है वहां उनको होना ही पड़ेगा। पुद्गल अस्तिकाय है, मूर्त है, क्रियावान है, गलन-मिलन कारी है। इन सब गुणों व लक्षणों से भी परमाणु की गलन-मिलन की समस्या नहीं सुलझती। कठिनाई यह है कि पुद्गल के चार भेदों (स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु) में परमाणु भी एक भेद माना गया है। छः द्रव्यों में भी परमाणु स्वतन्त्र नहीं है बल्कि वह पुद्गल का ही एक विभाग है, हिस्सा है। अतः पुदगल के लक्षण व गुणों के आधार पर दी गई परिभाषा की विवेचना आवश्यक है। वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श पुद्गल के गुण व लक्षण हैं। इनके विवेचन से पता लगता है कि स्थूल स्कन्धों में पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श विद्यमान हैं जब कि परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष- इन युगलों में से एक एक) होते हैं। "स्पर्शरसगन्धवर्णवान पुद्गलः" यह परिभाषा परमाणु तथा स्कन्ध दोनों के गुणों को स्पष्ट करती है। इस परिभाषा में संस्थान को नहीं जोड़ा जा सकता क्यों कि परमाणु का संस्थान नहीं होता। परमाणु के परस्पर संयोग के विशेष नियम है। सभी परमाणु आपस में संयोग नहीं करते हैं। स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है। स्पर्श आठ हैं परन्तु रूक्ष और स्निग्ध यह दो स्पर्श ही स्कन्ध का निर्माण करते हैं। परमाणु चाहे सजातीय हो या विजातीय अधिकतर स्थितियों में बन्ध नहीं करते। परमाणु अविभाज्य है इसलिए विभक्त होने का प्रश्न ही

नहीं उठता परन्तु सम्भवतः बन्ध भी न करता हो क्योंकि अनेक परमाणु बिना बन्ध परिणाम को प्राप्त हुए भी एक आकाश क्षेत्र में एक काल में स्पर्श तथा अस्पर्श होकर रह सकते है। ऐसा उनका रहना इस बात को पुष्ट करता है कि परमाणु परस्पर में बन्ध ही नहीं करते हों। केवल एक स्थिति बन्ध की सम्भवतः इसलिये मान ली गई हो कि कही इस जगत में ऐसी स्थिति न आ जाय कि सारे स्कन्ध टूटकर परमाणु तो बन जाय लेकिन परमाणु स्कन्ध न बने तो प्रकृति का समूचा सन्तुलन टूट जाएगा। सारा स्थूल जगत सूक्ष्म जगत में बदल जाएगा। अगर परमाणु परमाणु के रूप में और स्कन्ध स्कन्ध के रूप में स्थिर रहे तो कम से कम एक एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं। बाद में तो उन्हें बदलना ही पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमाणु परमाणु के रुप में अनन्त काल तक नहीं रह सकते। बाद में उन्हें बन्ध करना ही होगा चाहे बन्ध की कितनी ही सीमाएँ क्यों न हो। इस समस्या के समाधान में परमाणु द्विधितता का सहज स्मरण होना स्वभाविक है जैसा कि जैन सूत्र अनुयोग द्वार में वर्णित है। इसके अनुसार परमाणु दो प्रकार के हैं:—सूक्ष्म परमाणु व व्यावहारिक परमाणु। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणु के समुदाय से बनता है। फिर भी व्यावहारिक परमाणु परिकल्पनात्मक सांप्रत्यय है, यथार्थ में ये स्कन्ध हैं। उसकी परिणति सूक्ष्म ही होती है अत. वह व्यवहारतः परमाणु ही कहलाता है। इस भेद से ऐसा जान पड़ता है कि बन्ध की स्थिति इन व्यावहारिक परमाणुओं पर लागू होनी चाहिये। सूक्ष्म परमाणुओं का बन्ध न होना इसलिए आवश्यक है कि इस विशाल प्रकृति की योजना इतनी गलत नहीं हो सकती कि इसकी कोई आरक्षण निधी (Reserve Fund) ही न हो। अनन्त परमाणु ऐसे होने चाहिये जो केवल आरक्षण निधि का काम करे। सम्भवतः इसी कारण

पुद्गलास्तिकाय को ही द्रव्य स्वीकार कर सूक्ष्म परमाणु को इससे पृथक कर दिया है। अगर यह मान लिया जाय तो सूक्ष्म परमाणु न तो मूर्त हो सकते हैं और न ही इन्द्रिय ग्राह्य भी। ऐसे परमाणु का मूर्त व इन्द्रियग्राह्य केवल निश्चय दृष्टि से ही कहा जा सकता है। यह देखने का विषय नही वल्कि सर्वज्ञ अथवा अवधि ज्ञानी के वोध करने की बात हो सकती है। मूर्त की सज्ञा व्यावहारिक परमाणुओं को ही दी जा सकती है। इस प्रकार सूक्ष्म परमाणु को मिलन-गलन की परिभाषा से पूर्ण रूप से मुक्त किया जाना चाहिये। सूक्ष्म परमाणु अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी है और केवल जानने का विषय है। इसलिये इसका वर्णन इसी सीमा तक आगम साहित्य मे हुआ ऐसा जान पड़ता है। यह और भी आगे गहन अध्ययन का विषय हो सकता है। जैन आगम साहित्य में वर्णित व्यावहारिक परमाणु जो कि सूक्ष्म परमाणुओं का पुन्ज रूप होता है, वही गलन-मिलन की परिभाषा में आ सकता है और व्यवहारिक परमाणुओं की इस विश्व में उपयोगिता है और ये स्कन्ध हैं।

संदर्भः—
"जैन विज्ञान मे पुद्गल की परिभाषा" लेखक डा. महावीर राज गेलड़ा।
'तुलसी प्रज्ञा' में प्रकाशित।

परमाणु का वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं भौतिक युग में उसका उपयोग

आज वैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह स्पष्ट रूप से आभास हो रहा है कि विश्व (Universe) या ब्रह्माण्ड (Cosmos) असीम है। इसका न कोई आदि है, न अन्त। विश्व की घटनाएं विस्मयकारी हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हाल्डेन ने यहां तक कह दिया है, कि विश्व कल्पनातीत रुप मे विस्मयकारी हैं। ऐसे ही परमाणु भी विस्मयकारी है क्योंकि इससे "एटम बम" जैसे विध्वंसक अस्त्र का आविष्कार हुआ जिसमें समस्त मानव जाति समाप्त हो सकती हैं।

विज्ञान ने सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य (Matte's of energy) को तीन वर्गों में रखा है:– ठोम (Solids), द्रव (Liquids) और गैस (Gases)। विज्ञान की यह भी मान्यता है कि ये तीनों वर्गों के पुद्गल सदा अपने अपने वर्ग मे नहीं रहते। वे अपना वर्ग छोड़कर रूप बदल कर दूसरे वर्गों में जा मिलते हैं और पुन: उसी वर्ग में आजाते है (ठोस, गैस, द्रव)। प्राकृतिक रूप में पाया जाने वाला सबमे हल्का तत्व (Element) उद्जन (Hydrogen) है और सबसे भारी युरेनियम। इनमें से अधिकतर तत्व सामान्य ठोस पदार्थ है जैसे लोहा, चांदी, तांबा, सीसा आदि। अन्य तत्व जैसे पारा आदि तरल (Liquid) पदार्थ हैं और कुछ गैस होती है जैसे कि क्लोरीन ऑक्सीजन (Oxygen) आदि। जब कुछ तत्व (Elements) जुड़ कर एक बिलकुल नया पदार्थ बनाते है तब उस पदार्थ को यौगिक कहते हैं। उदाहरण के लिए पृथ्वी के तीन–चौथाई भाग को घेरे रहने वाला जल दो तत्वों आक्सीजन और हाइड्रोजन का यौगिक है। यौगिकों में तत्व सदैव एक निश्चित अनुपात में मिलते हैं।

यौगिकों में अपने अलग ही गुण-धर्म होते हैं। जैसा कि हम सब जानते हैं, जल के लाभ हैं। इन्हीं लाभों में से एक लाभ यह है कि वह आग को बुझा सकता है। लेकिन जल को बनाने वाले दो तत्वों में से हाइड्रोजन एक ऐसी गैस है जो ज्वलनशील है और साथ वाली ऑक्सीजन गैस आग को उत्तेजित करती है। लेकिन जब दोनों गैस एक खास अनुपात में मिलाई जाती है तो पानी का रूप बन जाता है और आग को भड़काने के बजाय बुझाने का काम करती है।

यदि लिखने के काम आने वाली चाक का एक टुकड़ा हम लें और उसके छोटे छोटे टुकड़े तोड़ते चले जांय तो चाक के हर टुकड़े में वही गुण धर्म होंगे जो चाक के मूल तोड़ने के पहले के टुकड़े में थे। उस छोटे से छोटे अणु को जिसमें आज मूल चाक के गुण-धर्म होते हैं, चाक का अणु (molecule) कहते हैं। यह अणु केलशियम, कार्बन और ऑक्सीजन, इन तीनों से मिल कर होता है। यदि उस अणु के इन तत्वों को अलग अलग कर दिया जाये तो वह चाक नहीं रह जाएगा। किसी पदार्थ का छोटे से छोटा वह कण जिसमें उस पदार्थ के सब गुण-धर्म मौजूद हों "अणु" स्कन्ध कहलाता है। अणु एक ही प्रकार के अथवा विभिन्न प्रकार के परमाणुओं से मिलकर बने होते हैं।

जल का एक अणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और आक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर बना होता है। एक अणु कितना छोटा होता है उसकी कुछ कुछ कल्पना की जा सकती है। जैसे कि वर्षा की एक बूंद में अणुओं की लगभग उतनी ही सख्या होती है जितनी की भूमध्य सागर में जल की बूंदों की संख्या।

आप लोहे को लें। उसे टुकड़ों में तब तक तोड़ते चले जाएं

जब तक कि ऐसा खंड न रह जाए जो लोहा होते हुए भी और आगे न तोडा जा सके। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म खड को परमाणु या ऐटम (Atom) कहते हैं। परमाणु का अर्थ है पदार्थ का वह खंड जो और छोटे टुकड़ों मे न बंट सके। किसी तत्व का सबसे छोटा कण जिसका स्वतत्र अस्तित्व है और जो रासायनिक क्रिया की इकाई है वह परमाणु है।

अणु (Atom) के दो अंग होते हैं, एक मध्यवर्ती न्यष्टि (Nucleus) जिसमें उद्युतकण (Protons) और उदासीनकण (Neutrons) होते हैं और दूसरा बाह्य कक्ष (orbital shells) जिसमें विद्युदणु (Electrons) चक्कर लगाते है। न्यष्टि को नाभिक भी कहा गया है। इस विषय में यानि परमाणु के नाभिक की खोज हुई उस सम्बन्ध में विद्वान लेखक श्री गुणाकर मुले के लेख आये हैं उनमें से सक्षिप्त अंश यहां दिया गया है :-

वर्तमान सदी के दूसरे दशक में रदरफोर्ड तथा उनके सहयोगियों ने, न केवल परमाणु के नाभिक की खोज की, बल्कि इस नाभिक को विखंडित करने में भी उन्हें सफलता मिली। नाभिकीय भौतिकी (Nuclear Physics) नामक एक नए विज्ञान का उदय हुआ। यानि नाभिकीय ऊर्जा के युग की शुरुआत हुई। उसी समय रदरफोर्ड के एक तरुण विद्यार्थी डेनिश वैज्ञानिक नील्स बोर (१८८५-१९६२) ने परमाणु के भीतर के इलेक्ट्रानों की व्यवस्था के बारे में एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसके अनुसार परमाणु के भीतर ये इलेक्ट्रॉन निश्चित कक्षाओं में चक्कर काटते रहते हैं। यह रदरफोर्ड-बोर परमाणु हमारे सौर मंडल जैसा है। सौर मंडल के केन्द्र में सूर्य है और इसके चारों ओर कई ग्रह परिक्रमा करते रहते है। इसी प्रकार परमाणु के केन्द्र में इसका नाभिक है और

विभिन्न कक्षाओं में इलेक्ट्रॉन इस नाभिक की परिक्रमा करते रहते हैं।

परमाणु को हम अपनी आंखों से नहीं देख सकते, तो फिर उसके भीतर के कणों के अस्तित्व के बारे में हमें कैसे जानकारी मिलती है? इसके लिए आंग्ल वैज्ञानिक चार्ल्स विल्सन ने १९११ में एक अद्भुत किन्तु सरल उपकरण की खोज की थी। परमाणु के भीतर के आवेशी कण जब एक गैसीय चैम्बर में से गुजरते हैं तब वे अपने पथ के निशान छोड़ जाते हैं, जिनके चित्र उतारे जा सकते हैं।

इस प्रकार धीरे धीरे नए-नए परमाणु-कणों तथा उनके गुणधर्मों की खोज हुई। सबसे सरल एवं हल्का परमाणु हाइड्रोजन का होता है। इसके भीतर एक नाभिक होता है, जिसके चहुँ ओर सिर्फ एक इलेक्ट्रॉन चक्कर काटता रहता है। हीलियम और युरेनियम के परमाणुओं की खोज हुई। इनके भीतर भी नाभिक होता है। ऐसे थे रदरफोर्ड-बोर परमाणु, जो एक अतिसूक्ष्म सौर मंडल है। १९१९ में रदरफोर्ड ने अल्फा-कणों से नाइट्रोजन के नाभिक पर प्रहार किया, तो इसके भीतर से एक नया कण बाहर आया जिसे प्रोटोन (Proton) का नाम दिया गया। आगे के अनुसंधानों से पता चला कि फोटोन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन आदि इन्हें कण तथा तरंग दोनों ही माना जा सकता है।

जी.एस.आई. के डा. गुंटेर सीगर्ट के अनुसार "परमाणु की रचना ही यह बताती है कि युरेनियम प्लेटीनम (platinum) आदि भारी तत्व कैसे बनते है।" परमाणु के नाभिक में न्यूट्रॉन (आवेशरहित कण) और प्रोटोन होते हैं, इसके चारों ओर हल्के

ऋणात्मक आवेशवाले इलेक्ट्रॉन परिक्रमा करते रहते हैं। तत्व की विशेषताएँ उन इलेक्ट्रॉनों की संख्या पर ही निर्भर करती है जो नाभिक के भीतर प्रोटोनों की सख्या के बराबर होता है।

हाइड्रोजन के परमाणु में एक प्रोटोन होता है, हीलियम में दो, लीथियम में तीन........इसी क्रम में युरेनियम के नाभिक में ९२ प्रोटोन होते हैं। इस रचना और विशेषताओं को जानते हुए लगातार नये नुस्खे बनाये जाते हैं जब तक कि कोई नई चीज पैदा न हो। जब दो अलग तत्वों के परमाणुओं को मिलाया जाता है तो तीसरा तत्व पैदा हो सकता है जिसकी विशेषताएं वैज्ञानिक धारणाओं को पुष्ट भी करती है, ध्वस्त भी।

भौतिकविदों ने परमाणु के भीतर ऋणावेशी (negative) कणों की खोज की है तो धनावेशी (positive) प्रतिकणों की भी। प्रत्येक कण के लिए एक प्रतिकण का अस्तित्व है। परमाणु के भीतर ऋणावेशी इलेक्ट्रॉन हैं, तो उसका प्रतिकण पोजिट्रॉन (Positron) भी है। और, यदि परमाणु के भीतर कणों और प्रतिकणों का अस्तित्व है, तो ब्रह्माण्ड में विश्व और प्रतिविश्व का भी अस्तित्व होना चाहिये। पर वैज्ञानिकों को ऐसी जानकारी अभी तक नहीं मिल पाई है। परन्तु जैन दर्शन में लोक और अलोक दोनों का अस्तित्व अनादिकाल से माना गया है। इसी प्रकार अनेक परमाणु कण पहले मानव-मस्तिष्क में जन्मे हैं। भौतिक जगत में उनकी वास्तविक खोज बाद में हुई है।

प्रसिद्ध लेखक श्री गुणाकर मुले ने अपने एक अन्य लेख "क्या ब्रह्माण्ड के रहस्य बुद्धिगम्य है ?" में लिखते हैं कि परमाणु के भीतर के अतिसूक्ष्म जगत में अनिर्धार्यता का साम्राज्य है। हम

इलेक्ट्रोन की गति जानते हैं, तो स्थिति अज्ञात है और स्थिति जानते हैं, तो गति अज्ञात रहती है। "गति गम्य, तो स्थिति अगम्य, स्थिति गम्य, तो गति अगम्य"। विज्ञान में यह सिद्धान्त ही प्रकाश में आया है। दूसरी ओर यह तथ्य भी स्पष्ट है कि किसी पदार्थ में यदि गतिशीलता है तो स्थिति का होना आवश्यक है। सह-अस्तित्व स्वयंभू नियम है। पदार्थ में विरोधी गुणों का होना स्वाभाविक है। परस्पर विरोधी युगलों का अस्तित्व प्राकृतिक है। इनका सह-अस्तित्व भी स्वाभाविक है, नैसर्गिक है, किसी ने यह नियम बनाया नहीं; वह स्वयंभू है। कोई भी व्यक्ति, फिर चाहे वह कितना ही शक्तिशाली व मेधावी क्यों न हो, प्रकृति के नियमों का सर्जक नहीं हो सकता। प्राकृतिक नियम नैसर्गिक होते हैं, स्वाभाविक होते हैं। इसलिये महान वैज्ञानिक आइन्सटीन ऐसे 'अनिर्धार्य जगत' (अनिश्चित जगत) में विश्वास नहीं रखते हैं। जीवन के अन्तिम दिनों तक वे यह मानने को तैयार न थे कि ऐसी अनिश्चितता विद्यमान होती है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि "मैं नही मानता कि ईश्वर प्रकृति के साथ पासा खेलता हैं। पर साथ हो, उन्होंने यह भी कहा है कि भौतिक विश्व की वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान हमें केवल विशुद्ध चिन्तन यानि अतीन्द्रिय ज्ञान से ही हो सकता है। अन्य शब्दों में प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन के लिये विशुद्ध चिन्तन तो सर्व शक्तिमान बन जाता है, और भौतिक विश्व गौण बन जाता है। विराट अज्ञेय का यह दर्शन अनेकानेक विचारकों को न केवल विचलित कर रहा है, न केवल घोर निराशावादी बना रहा है बल्कि प्राचीन मिथकों की शरण में चले जाने के लिए विवश कर रहा है। वास्तविकता यह है कि भौतिक जगत वास्तविक है, असीम रूप से विस्मयकारी है। लेकिन मानव बुद्धि भी उसी कोटि की है। बुद्धि की क्षमताएं सीमित हैं, पर

प्रकृति के साथ जुड़ कर असीम है, प्रकृति के साथ निरन्तर प्रयोग करते हुए असीम है ।

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा यह भी सिद्ध है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है । एक ग्राम (gram) पुद्गल में जितनी शक्ति (energy) होती है उतनी शक्ति ३००० टन (८४००० मन) कोयला जलाने पर मिल सकती है । रसायनशास्त्र (Chemistry) में जो 'Atom' शब्द आता है वह उद्युत्कण (Proton), निद्युत्कण (Neutron) व विद्युदणु (Electron) उद्यदणु (Positron) का एक पिण्ड है जबकि परमाणु वह मूल कण है जो दूसरों के मेल के बिना स्वयं कायम रहता है । अणु और 'एटम' की इस विषमता को देखकर वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता ठीक नहीं लगती कि सूर्य के प्रकाश में चलते फिरते दिखने वाले धूलिकण परमाणु हैं । ये स्कन्ध ही लगते हैं ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, परमाणु के भीतर के अधिकांश कण या तो धनावेशी हैं या ऋणावेशी और न्यूट्रॉन एक ऐसा प्रमुख परमाणु कण है जो न ऋणावेशी है न धनावेशी, यह एक आवेशरहित या उदासीन कण है । आवेशरहित होना या उदासीन होना न्यूट्रॉन की सब से बड़ी विशेषता है । गुरुत्वाकर्षण से खरबों-खरबों-खरबों गुना अधिक शक्तिशाली एक विशिष्ट किस्म के नाभिकीय बल के जरिये प्रोटॉन और न्यूट्रॉन एक दूसरे से जुड़े रहते हैं । ये कण इलेक्ट्रॉनों के व्यूह को भेद कर परमाणु के नाभिक को तोड़ने में समर्थ है । और ठीक इसी तथ्य में न्यूट्रॉन की विनाशक शक्ति का रहस्य निहित है । इसलिये न्यूट्रॉन बम के विस्फोट में पैदा होने वाले न्यूट्रॉन कण करीब एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के समूचे जीव जगत को, सूक्ष्म जीवाणुओं (virus) को भी,

पूर्णतः नष्ट कर देंगे भले ही यह प्रक्रिया कुछ धीमी रफ्तार की हो ।

जब यह पता चला कि इस खोज के द्वारा एक भीषण बम-परमाणु बम—का निर्माण हो सकता है तो फिर परमाणु बम बनाने का काम सन् १९४० में शुरु हुआ। उनका परीक्षण हुआ और वह सफल रहा। अनेक परमाणु बम बने और दूसरे महायुद्ध में ये परमाणु बम सामरिक देशों पर गिराये गये और फलस्वरूप मनुष्य जाति के विनाश की लीला शुरु हुई और दुनिया भर के देशों को भय हुआ कि अगर यह क्रम चलता रहा तो अति शीघ्र विश्व की समस्त मनुष्य जाति समाप्त हो जाएगी। इसलिये अनेकानेक शक्तिशाली देशों ने इस मानव संहार को रोकने के लिए अणु बम गिराने पर रोक लगाने का प्रयत्न किया। सामरिक महत्व को छोड़कर परमाणु को मानव हित के लिए इस्तेमाल करने की बात सोची गई। आज मनुष्य परमाणु शक्ति को नियंत्रित कर उसे बिजली में बदल कर अनेक रचनात्मक कार्य सम्पन्न करने में सफल हुआ है। परमाणु का उपयोग स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिये भी होता है। परमाणु से उत्पन्न ऊर्जा लम्बे समय तक आवश्यक शक्ति प्रदान करती है। परमाणु ऊर्जा का एक विचित्र लक्षण यह है कि वह एक छोटे से ही स्थान में बहुत अधिक मात्रा में भरी जा सकती है जो लम्बे समय तक आवश्यक शक्ति प्रदान करती रहती है। अंतरिक्ष में लम्बी-लम्बी उड़ानों के लिए परमाणु शक्ति का प्रयोग शायद उपयुक्त साबित होगा।

हमारा शरीर भी असंख्य कोशिकाओं से बना है। हर कोशिका के बीच में नाभिक (nucleus) है। इन नाभिकों में जन्म-जन्मान्तर के संचित ज्ञान व संस्कार के गुप्त सूत्र ग्रन्थियों के

रूप में स्थित है। हर नाभिक में स्थित संस्कार सूत्र की लम्बाई वैज्ञानिकों ने पांच फुट आंकी है। इस तरह शरीर के लगभग ६०० अरब जीवित कोशिकाओं में स्थित संस्कार सूत्र की कुल लम्बाई तीन हजार अरब फीट हो सकती है। यह लम्बाई सारे विश्व को अपने में लपेट लेने में समर्थ है जिसके कारण इसके विश्व व्यापी होने का अनुमान लगाया जा सकता है। नाभिक एक प्रकाश मात्र है। इसी में जीव स्थित है। प्रत्येक परमाणु एक सौर मंडल के सदृश है और उसका सूर्य नाभिक है। यही सूर्य परमाणु को ऊर्जा प्रदान कर सक्रिय बनाता है। शरीर का यह प्रकाशतत्व जीवन की सारी गतिविधियों का सचालक है जिसके नष्ट होते ही आदमी मृत्यु को प्राप्त होता है।

संदर्भ:—

१. "बीसवीं सदी में भौतिक विज्ञान", "न्यूट्रान बम—जगत समाप्त" "क्या ब्रह्माण्ड के रहस्य बुद्धिगम्य हैं ?" लेखक गुणाकर मुले—साप्ताहिक हिन्दुस्तान दिनांक 13-12-72, 30-८-८१ व 20-६-८२ ।

२. विश्व को बदल देने वाले आविष्कार भाग २, लेखक मीर नजावत अली । नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा प्रसारित ।

3. दर्शन और विज्ञान के आलोक में पुद्गल द्रव्य । लेखक श्री गोपीलाल अमर, मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित ।

४. जर्मन भौतिक शास्त्रियों द्वारा नये तत्व का निर्माण । लेखक डा. गुहेर सीगर्ट—जर्मन समाचार दिनांक २३-१२-८२ ।

जीव सम्बन्धी तथ्य (जैन दृष्टिकोण)

पुद्गल की भांति जीव भी एक सदात्मक पदार्थ और अरूपी सत्ता है।

**जीवो उवओगमओ, अमुत्तो कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

जीव चैतन्यमय है – जीता है, उपयोगमय है यानि ज्ञाता दृष्टा है, अमूर्तिक यानि इन्द्रियों के अगोचर है, अच्छे बुरे कार्यो का करने वाला है, उसका आकार अपना देह-प्रमाण है और वह सुख-दुःख का भोक्ता है। वह ससार में रह रहा है अर्थात् अनेक योनियों में जन्म-मरण करता रहता है। अविनाशी और अक्षय है और अनादि-निधन (न आदि न अन्न) है। शुद्ध स्वरूप से सिद्ध के समान है और उर्ध्वगमन उसका स्वभाव है। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है।

हमारे जीवित शरीर का मूल द्रव्य जिसे "जीव द्रव्य" (Protoplasm) कहा जाता है कार्बनिक और अकार्बनिक के संयोगों का एक जटिल मिश्रण है। जीव द्रव्य के मुख्य संघटक है:- पानी, अकार्बनिक लवण, प्रोटीन, कार्बोज (Carbo-hydrate), वसा एव केन्द्रक अम्ल (Nucletic acid)।

प्रत्येक जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जीवनमुक्ति के पश्चात् आत्मा सिद्ध (परमात्मा) बन जाती है और सिद्धात्माओ के निवास (सिद्ध शिला) पर वह एक स्वतन्त्र सिद्ध-परमात्मा के रूप

**द्रव्य संग्रह: नेमिचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती–मुनि श्री हजारीमल ग्रन्थ पृष्ठ ३६०

में स्थित रहती है। इस तरह जैन दर्शन प्रत्येक जीव के उच्चतम विकास और अस्तित्व के लिए एक अनन्त अवकाश की मान्यता रखता है।

जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है। यदि वह पहले विद्यमान न रहा हो और बाद मे भी विद्यमान न हो तो वर्तमान में भी उसका अस्तित्व नही हो सकता। जीव का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। साधारणतः जड़ात्मक तत्वो के अतिरिक्त सभी सचेतन प्राणियों में अपनी अनुभूतियां होती हैं। प्रत्येक प्राणी में वस्तु दर्शन से जो सुख-दुखात्मक अनुभूति होती है वह प्रत्यक्षानुभूति है। जैसे खाते देखकर उसका अनुमान करने से ही हमारे मुंह मे पानी आजाता है। दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुमान करने मात्र से ही हमारी आंखों में अश्रु पैदा हो जाते हैं। यह अनुमान करने वाला शरीर से भिन्न कोई है तो वह आत्मा या जीव है। प्राणी मात्र में चेतना का न्यूनाधिक मात्रा में सद्‌भाव होता है। यद्यपि सत्तारूप में चैतन्य शक्ति सब प्राणियों में अनन्त होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब में एक सी नही होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एवं दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यूनाधिक होता रहता है। एकेन्द्रिय जीवों में भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे तो फिर जीव और अजीव में अन्तर नहीं रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रों में कहा है "केवल ज्ञान" (पूर्ण ज्ञान) का अनन्तवां भाग तो सब जीवों में विकसित रहता है। यह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए पर ऐसा कभी नहीं होता।

जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त है वे जितने है उतने ही रहते हैं, न घटते हैं, न बढ़ते हैं। कोई भी जीव नया पैदा नहीं होता है

और न किसी का विनाश ही होता है। अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है कि किसी अन्य देह से निकलकर जीव इस देह में आया है इसे ही उसका जन्म होना कहते है। उस देह से निकल कर जीव अन्य देह में चला गया यही उसकी मृत्यु है।

प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जो असंख्य प्रदेशी है अर्थात् असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। वह सब शरीर में व्याप्त होकर रहता है। जीव का शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर में होता है वह चींटी के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच और विस्तार दोनों दशाओं में प्रदेश संख्या (अवयव सख्या) समान होती है।

संकोच और विकोच जीवों की स्वभाव-प्रक्रिया नही है। वे कार्मण शरीर सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बधे हुए होते है। इसलिए उनका परिणाम स्वतन्त्र नहीं होता। कार्माण शरीर का छोटापन और मोटापन गति चतुष्टय–सापेक्ष होता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतियां है। जीव की संकोच–विकोच की तुलना दीपक के प्रकाश से की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है।

बड़े व छोटे शरीरों की अपेक्षा जीव के अनेकों भेद हो जाते है। कुछ तो हजारों योजन प्रमाण पहाड़ सरीखे शरीर को धारण करते हैं और कुछ इतने छोटे शरीर वाले हैं कि बालाग्र पर भी अनेकों अनेकों समा सकें। सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों की भांति सूक्ष्म शरीर धारी जीव भी सशरीर एक दूसरे में अवगाह पाते हुए एक

ही क्षेत्र में अनेक रह सकते हैं। जीव का शरीर प्रमाण मानने में यह हेतु है कि ऐसा माने विना, दुख सुख का वेदन सर्वाङ्ग में न होकर शरीर के किसी निश्चित प्रदेश में ही होने लगेगा क्योंकि वेदन शक्ति युक्त जीव उसी जीव में स्थित है और शरीर में वेदन शक्ति नहीं है।

जीव दो प्रकार के होते हैं-संसारी और मुक्त। जन्म मरण की परम्परा में घूमने वाला जीव संसारी कहलाता है। जैसे काल अनादि और अविनाशी है वैसे ही जीव भी तीनों काल में अनादि और अविनाशी है। जैसे आकाश अमूर्त है फिर भी अवगाह गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है फिर भी वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है। जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान गुणों का आधार है। जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय और अतुल होता है वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी-अवस्थित होता है। जैसे स्वर्ण धातु को मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप दिये जा सकते हैं फिर भी वह मूलतः स्वर्ण ही रहता है, केवल नाम रूप में अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें (कोई द्रव्य हो उसका जो दृश्य रूप है वह पर्याय है) बदलती हैं, रूप और नाम बदलते हैं यानि वह नित्य परिणमन करता है फिर भी द्रव्यत्व गुण के कारण वह ज्यों का त्यों बना रहता है अर्थात् अपना चेतनत्व छोड़ कर जड़ नहीं बनता। प्राणी जैसा कर्म करता है उसका वैसा ही फल अपनी विविध पर्यायों में भोगता रहता है। जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातुओं के रूप में परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल विपाक में आने पर अपने आप विविध रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे सोना और मिट्टी का संयोग अनादि है वैसे ही जीव और कर्म का संयोग (सहगमं) भी

अनादि है। जैसे मुर्गी और अण्डे में "पौर्वापर्य" नहीं है वैसे ही जीव और कर्म में भी पौर्वापर्य नहीं है। दोनों अनादि-सहगत है।

संसारी जीव शरीर से भिन्न नही होता। जैसे दूध में पानी, तिल में तेल, कुसुम और गन्ध, मिट्टी और धातु—ये एक लगते हैं, वैसे ही संसार दशा मे जीव और शरीर एक लगते हैं। जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नहीं दिखता, फिर भी सुगन्ध घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होती है, वैसे ही जीव के नहीं दिखने पर भी उसका ज्ञान गुण के द्वारा ग्रहण होता है। जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है तो यदि वह नही दिखता है, फिर भी आकार और चेष्टाओं के द्वारा जान लिया जाता है कि अमुक व्यक्ति पिशाच से अभिभूत है। वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुख, बोलना—चलना आदि विविध चेष्टाओं के द्वारा जाना जाता है।

जन्म-मरण से निवृत्त जीव मुक्त कहलाता है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक होता है वैसे ही जीव भी सवर-तप आदि उपायों के द्वारा कर्मो से पृथक होकर मुक्त होता है। जीव को मुक्त दशा में संकोच-विकोच भी नहीं होता। वहां चरम शरीर के ठोस (दो तिहाई) भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

इन्द्रियों के द्वारा जीव के जो विभाग होते हैं उसे जाति कहते हैं। जाति शब्द का अर्थ सदृशता है:- जैसे गाय जाति, अश्व जाति, मनुष्य जाति, एकेन्द्रिय द्विइन्द्रिय जाति। जिन जीवों के सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन जीवों की जाति है एकेन्द्रिय। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु व वनस्पति के जीव इसमें आते हैं। जिन

जीवों के स्पर्शन तथा रसन दो इन्द्रिय होती है, उन जीवों को जाति है द्विन्द्रिय। लट, सीप, शंख, कृमि, घुन आदि जीव इसमें आते है। जिन जीवों के स्पर्शन, रसन तथा घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती है, उन जीवों की जाति है– त्रीन्द्रिय। चीटी, मकोड़ा, जूं, लीख, चीचड, आदि जीव इसमें आते हैं। जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण तथा चक्षु चार इन्द्रियां होती है उन जीवों की जाति है चतुरेन्द्रिय। मक्खी, मच्छर, भंवरा, टिड्डी, कसारी आदि जीव इसमें आते है। जिन जीवों के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत पांच इन्द्रिय होती हैं उन जीवों की जाति पंचेन्द्रिय कहलाती है। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते है–तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य पंचेन्द्रिय। तिर्यन्च तीन प्रकार के होते हैं– १ जलचर– जल में विचरने वाले जीव– मच्छली, कछुआ, मगर आदि। २. स्थलचर– भूमि पर विचरने वाले जीव– पशु, सर्प आदि। ३. नभचर– आकाश में विचरने वाले जीव– कौआ, चिड़िया, तोता आदि। मनुष्य पंचेन्द्रिय दो प्रकार के होते हैं– समूर्च्छिम और गर्भज। समूर्च्छिम मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि में उत्पन्न होते हैं। ये मन रहित है इसलिये इन्हें असंज्ञी मनुष्य कहते हैं। गर्भज मनुष्य के गर्भ में होते हैं ये मन सहित होते हैं अतः इनको संज्ञी मनुष्य कहते है।

संसारी जीवों के छः समूह है। ये समूह तरह तरह के पुद्गलों से बने हुए शरीरों के आधार पर किये हुए है:—

१. पृथ्वीकाय—असंख्य जीव; मिट्टी की एक डली में पृथक पृथक असंख्य जीव होते हैं।
२. अप काय—असंख्य जीव; जल की एक बून्द में पृथक पृथक असंख्य जीव होते हैं।

३. तैजस काय —असंख्य जीव; एक छोटी चिनगारी में पृथक पृथक असंख्य जीव होते हैं।

४. वायु काय—असंख्य जीव; वायु काय में भी पृथक पृथक असंख्य जीव होते हैं।

५. वनस्पति काय—संख्य, असंख्य और अनन्त जीव। संख्य–जिसकी गिनती होती हैं। असख्य–जिसकी गिनती सामान्यतया नहीं हो सकती। उसकी गिनती उपमा के द्वारा समझाई जाती है फिरभी उसकी सीमा है। अनन्त–जिसकी न तो गिनती हो सकती है और न उपमा के द्वारा समझाई जा सकती है। उसकी कोई सीमा नहीं है।

६. त्रस काय—असंख्य जीव। त्रस काय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेप पांच काय के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक भरा हैं। स्थूल जीव आधार बिना नहीं रह सकते इसलिए वे लोक के थोड़े भाग में है। एक–एक काय में कितने जीव हैं, वह उपमा के द्वारा समझाया गया है:—

एक हरे आँवले के आयतन के बराबर मिट्टी के ढेले में पृथ्वी के जितने जीव है, उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बड़ा किया जाए तो एक लाख योजन लम्बे चौड़े जम्बू द्वीप में भी नहीं समाते।

पानी को एक बून्द में जितने जीव हैं, उनमें सब से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान बनाया जाए तो वे उक्त जम्बू द्वीप में नहीं समाते।

एक चिनगारी के जीवों में से प्रत्येक के शरीर को लीख के

समान किया जाए तो वे भी जम्बू द्वीप में नहीं समाते। नीम के पत्ते को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक के शरीर को खस-खस के दाने के समान किया जाए तो वे जम्बू द्वीप में नही समाते।

वनस्पति काय—ग्राम, अंगूर, केला, सब्जी, आलू, प्याज, गाजर, लहसुन आदि वनस्पति काय हैं। साधारण और प्रत्येक ये वनस्पति काय के दो भेद है। जहाँ एक शरीर में अनन्त जीव हों उसे साधारण वनस्पति काय कहते हैं - सर्व प्रकार के कन्द मूल जैसे आलू, प्याज, सकरकन्द, गाजर आदि। जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव हों उसे प्रत्येक वनस्पति काय कहते हैं। जैसे आम, करेला, ककड़ी, दूब, पत्ते वाले शाक, कमल आदि। प्रत्येक वनस्पति में शरीर का निर्माण करने वाला मूलतः एक ही जीव होता है किन्तु उसके आश्रित असंख्य जीव होते हैं। द्विन्द्रिय आदि जीवों में यह बात नहीं होती।

द्विन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक के समस्त जीव हिलने-चलने में घूमने-फिरने में व भय खाकर स्वय अपनी रक्षा करने को भाग-दौड़ कर सकते है इसलिये "त्रस" कहलाते हैं। पृथ्वी, अप, तेजस, वायु व वनस्पति जो एकेन्द्रिय जीव हैं ऐसा नहीं कर सकते इसलिये "स्थावर" कहलाते हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों ने जो प्रत्यक्ष द्रष्टा थे, ऐसे स्थावर जीवों के व्यावहारिक लक्षण बताये हैं जिनके आधार पर सामान्य व्यक्ति भी उनकी पहचान स्पष्टता से कर सकता है। पृथ्वी, अप आदि की चेतना निम्न तथ्यों से सिद्ध होती है:—

पृथ्वीकाय:- जैसे मनुष्य और तिर्यंच के शरीर के घावों में सजातीय मांसांकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी में खोदी हुई खानों

में पृथ्वी के सजातीय अंकुर पैदा होते है। अतः यह प्रतीत होता है कि पृथ्वी सजीव है।

अपकाय:-पानी को सूक्ष्म यंत्र से देखने से स्पष्ट मालुम होता है कि पानी सजीव है। जहां भी पानी होगा वहां अन्य जीव (बैक्टीरिया) निश्चय ही पैदा होंगे। जैसे मनुष्य और तिर्यञ्च गर्भावस्था के प्रारम्भ में तरल होते है। वैसे ही जल तरल है। अतः वह जब तक किसी विरोधी से अपहृत नहीं होता, तब तक सजीव है।

तेजस काय:- अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है अतः यह प्रतीत होता है कि अग्नि सजीव है।

वायु काय-जीव भी बिना किसी प्रेरणा के गाय आदि की तरह अबोध रूप से इधर उधर घूमता है, गति करता है; अतः वह सजीव है। वनस्पति काय का छेदन भेदन करने से वह खिन्न होती है अतः वनस्पति सजीव है।

जीव में प्रजनन शक्ति (संतति उत्पादन), वृद्धि, आहार ग्रहण, स्वरूप में परिणमन, विसर्जन, जागरण, नींद, परिश्रम, विश्राम, आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न, भय, त्रास आदि अनेक लक्षण होते है परन्तु अजीव में इनमें से एक भी लक्षण नहीं पाया जाता। भाषा अजीव में नही होती किन्तु सब जीवों में भी नही होती। त्रस जीवों में भाषा होती है, स्थावर जीवों में नहीं होती। इसलिए भाषा का होना न होना जीव का व्यापक लक्षण नहीं है।

अचेतन द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल गतिशील नहीं है, केवल पुद्गल व उसके दोनों रूप परमाणु और स्कन्ध (परमाणु समुदाय) गतिशील है। इनमें नैसर्गिक और प्रायोगिक-

दोनों प्रकार की गति होती है। स्थूल स्कन्ध प्रयत्न के बिना गति नहीं करते परन्तु सूक्ष्म-स्कन्ध स्थूल प्रयत्न के बिना भी गति करते हैं। इसलिये इनमें इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पृष्ट पुद्गल स्कन्धों में कम्पन, प्रकम्पन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरणा और विचित्र आकृतियों का परिणमन देखकर साधारण व्यक्ति को 'ये सब जीव हैं' ऐसा भ्रम हो जाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जीव अमूर्त है इसलिये मूर्त शरीर जीव नहीं हो सकता। शरीर में रहने के कारण यह मूर्त भी कहा जा सकता है क्योंकि कार्मण शरीर साथ है परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह जड़ स्कन्धों की तरह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श युक्त इन्द्रिय ग्राह्य है। जिस तरह तिल में तेल, दूध में घृत, अग्नि में प्रकाश अदृश्य रूप में विद्यमान है उसी तरह समूची देह में जीव विद्यमान है। जैसे पुष्प दृश्य है किन्तु गन्ध अदृश्य है, उसी तरह शरीर दृश्य है और उसमें स्थित जीव अदृश्य है। जानने, देखने व अनुभव करने के चिन्हों से ही उसकी प्रतीति होती है। मृत्यु होने पर जीव शरीर को त्याग देता है और शरीर सर्वथा जड़ बनकर रह जाता है। जानने व देखने का काम वास्तव में इन्द्रियों का नहीं बल्कि उनके पीछे बैठे जीव का ही है जिनके निकल जाने पर ये सब निस्तेज हो जाती हैं। उदाहरण स्वरूप जैसे बिजली का करेन्ट आने से बल्ब जलता है और करेन्ट के चले जाने से बल्ब का जलना बन्द हो जाता है।

जीव स्वयं-चालित है। स्वयं-चालित का अर्थ पर-सहयोग-निरपेक्ष नहीं; किन्तु संचालक-निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से होती है। उत्थान आदि शरीर से उत्पन्न है। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। जीव में सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्मों का संग्रह या स्वी-

करण करता है और इस कारण वह कर्मो से प्रभावित होता है।

सजातीय जन्म-वृद्धि, सजातीय उत्पादन, उपचय-अपचय, क्षत संरोहण (घाव भरने की शक्ति) और अनियमिक तिर्यक गति -ये जीव के व्यवहारिक लक्षण हैं।

जीव का जन्म:–जीव अपने सजातीय जीव के शरीर से ही जन्म लेता है विजातीय जीव से नही। जैसे आम से संतरा व संतरे से आम पैदा नही होता।

सजातीय उत्पादन:–जीवों में उत्पादन क्षमता का गुण होता है। जीव में सजातीय प्राणी को जन्म देने की शक्ति होती है। यह जड़ में नहीं होती। कुछ ऐसी स्व–नियन्त्रित मशीनें होती हैं जो स्वचालित (automatic) होती हैं फिर भी ऐसी मशीनें किसी न तो सजातीय यंत्र की देह से उत्पन्न होती हैं और न ही सजातीय यंत्र को उत्पन्न ही करती है क्योंकि वे जड़ हैं।

उपचय-अपचय:- जीव के शरीर में अनुकूल सामग्री उत्पन्न होते ही उपचय(निर्माण)होने लगता है और सामग्री की प्रतिकूलता से अपचय (विनाश) होने लगता है। यह नियम चेतन पदार्थ पर ही लागू होता है जड़ पदार्थ पर नहीं। जैसे मशीन का भोजन ईंधन या ऊर्जा है, परन्तु अजीव होने के कारण खाद्य रस बनाकर और उसे पचाकर वह अपना शरीर नहीं बढ़ा सकती। वह जितनी है उतनी ही बनी रहती है। इसके विपरीत प्राणी जगत के पेड़-पौधों से लेकर मानव तक के शरीर में विकास और ह्रास होता रहता है। भोजन द्वारा प्राप्त पदार्थों का शरीर के भीतर परिवर्तन करने की क्षमता जीव की ही विलक्षणता के कारण है जो अजीव में प्रतीत नहीं होती।

क्षत संरोहण.- देह के किसी भी भाग की क्षति पूर्ति निजी रूप से कर सकने की क्षमता जीव में ही होती है जैसे घाव अपने आप भर जाता है। इसके विपरीत दुनिया में कोई यंत्र नहीं है सिवाय शरीर के जो अपना घाव स्वत: भर सके।

अनियमिक निर्यग गति:- स्वेच्छापूर्वक गति करना, जीव का इधर उधर घूमना भी उसकी पहचान का स्पष्ट लक्षण है। एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिये पवन वेग से दौड़ सकती है, पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती। चींटी में चेतना है, इस कारण वह इधर-उधर घूम सकती है। रेलगाड़ी जड़ है उसमें वह शक्ति नहीं। मानव-कृत यंत्र क्रिया का नियामक चेतनावान प्राणी ही है। रेल आदि अजीव में गति होती है परन्तु इच्छापूर्वक या बिना सहायता के गति नहीं हो सकती है। जीव और अजीव या प्राणी और अप्राणी में क्या भेद हैं इसको जानने के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है:-

लक्षण	जीव	अजीव
१. प्रजनन-शक्ति (संतति-उत्पादन)	हाँ	नहीं
२. वृद्धि	हाँ	नहीं
३. आहार ग्रहण। स्वरूप में परिणमन, विसर्जन	हाँ	नहीं
४. जागरण, नींद, परिश्रम, विश्राम	हाँ	नहीं
५. आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	हाँ	नहीं
६. भग-जाग	हाँ	नहीं

प्राणी सजीव और अजीव दोनों प्रकार का आहार लेते हैं किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव पदार्थों को जीव स्वरूप में कैसे परिवर्तित करते हैं, यह विज्ञान के लिए

आज भी रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उसमें पहुंच कर सजीव कोष्ठों का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए इसका श्रेय 'क्लोरोफिल'[१] को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नहीं जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव में परिवर्तित कर देता है। कृत्रिम उद्‌भिज अपने आप बढ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढती और इसकी बढ़ती में गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है। पत्थर और कुछ चट्टानों के बारे में भी कहा जा सकता है कि वे पृथ्वी के नीचे से बढ़कर छोटे या बडे आकार ग्रहण कर लेते हैं। यह बात अवश्य है कि पशुओं और पौधों का बढाव भीतर से खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से होता है और निर्जीव पदार्थों का बढाव होता है तो बाहर से। जैन दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणत करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है। आहार, चिन्तन, जल्पन आदि सब क्रियाएं प्राण और पर्याप्ति इन दोनों के सहयोग से होती है। जीवनोपयोगी पौद्‌गलिक शक्ति के निर्माण की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं और आत्म-शक्ति को प्राण। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यों (पुद्‌गलों) का ग्रहण, स्वरूप में परिणमन और विसर्जन करता है। जैसे बोलने में प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है और उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्‌गलों का संग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति

---

[१] "जैन दर्शन मनन और मीमांसा", लेखक युवाचार्य महाप्रज्ञ— पृष्ठ २०५

और इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास-प्राण भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मन-पर्याप्ति और मन-प्राण-ये परस्पर सापेक्ष है। इससे हमें यह निश्चय होता है कि प्राणियों को शरीर के माध्यम से होने वाली जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक-शक्ति दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही होती है।

प्राण-शक्तियां सब जीवों में समान नहीं होती फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी में होती ही हैं। शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय-इन जीवन शक्तियों में जीवन का मौलिक आधार हैं। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। मृत्यु हो जाने पर जीव एक क्षण भी शरीर रहित नहीं रहता। तुरन्त ही दूसरा शरीर धारण कर लेता है। दूसरा शरीर धारण करने के या जन्म के पहले क्षण में प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियों की रचना करता है उनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्जन (उत्सर्ग) होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर निर्भर होती है। जिस प्राणी में जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उसके अनुसार ही पर्याप्तियों का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना में प्राणी को अन्तर-मुहूर्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना जन्म के प्रथम समय में ही प्रारम्भ हो जाती है पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सभी पर्याप्तियों की समाप्ति न होने तक जीव [illegible]
और उसके बाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पू[illegible]
हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यह जान[illegible]
आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों [illegible]
किये बिना कोई [illegible] । पर्याप्ति ५:

लक्षरण है। प्राणी के सिवाय वह लक्षरण अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता।

जीव की जितनी भी मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृति होती है, वह सब बाहरी पुद्गलों की सहायता से ही होती है। जैसे वायुयान आकाश में तभी घूम सकता है जब कि उसे पेट्रोल आदि बाह्य सामग्री की सहायता मिलती है। वैसे ही पुद्गलों की सहायता बिना जीव की कोई भी प्रवृनि नहीं हो सकतो। अत:एवं सांसारिक अवस्था में जीव और पुद्गल का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जीव अदृश्य पदार्थ है और पुद्गल दृश्य पदार्थ है। इस कारण व्यक्तियों को जीव के अस्तित्व के विषय में संदेह होता है पर इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि जो कुछ खाने, पीने, चलने, फिरने, बोलने आदि की प्रवृति दिखाई देती हैं, वह एक प्रकार की क्रिया है। उसका कर्ता अवश्य हैं और वह हैं जीव। जब तक जीव शरीर में रहता है तब तक ही ये क्रियाएं सम्भव है।

अजीव:— जीव का भी प्रतिपक्षी तत्व है और वह है अजीव। इस संसार में जीव और अजीव ये दो ही तत्व हैं। अजीव जड़ पदार्थ है उसमें चेतना नहीं होती। रूपी और अरूपी अजीव के दो भेद हैं। यदि अजीव रूपी है तो उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की उपस्थिति है। जिस पदार्थ में वर्ण है तो उसमें लाल, पीला और कोई रंग होगा ही। जिस पदार्थ में गन्ध है उसमें अच्छी या बुरी गंध होगी ही। जिस पदार्थ में रस है उसमें खट्टा, मीठा या और कोई रस होगा ही। इसी प्रकार जिस पदार्थ में स्पर्श है उसमें शीत, उष्ण, स्निग्ध व रूक्ष कोई न कोई स्पर्श होगा ही। किसी भी पदार्थ में वर्ण, गंध, रस या स्पर्श में से किसी का भी अस्तित्व हो और किसी का न हो यह नहीं हो सकता क्योंकि इसका अविना-

भावी सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को कभी भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

[1]अजीव तत्व का दूसरा भेद अरूपी है। अरूपी पदार्थ का कोई आकार नही होता। इसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि भी विद्यमान नही होते। न वह आंखों से देखा जा सकता है और न छूकर ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इन्द्रिय ग्राह्य न होने पर भी इसका अस्तित्व अनुभव करते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानी ही उसे जानते है और दूसरों को बोध कराने के लिए उसका निरुपण करते हैं। ऐसे निरुपण के आधार पर ही अरूपी तत्व बुद्धिगम्य हो सकता हैं।

जीवाय अजीव की कौन कौनसी दशाएं मुक्ति की बाधक एव साधक हैं– इस जिज्ञासा के उत्तर में नौ तत्व की जानकारी आवश्यक है। जगत का अस्तित्व इन नौ तत्व और छः द्रव्यों पर ही निर्भर है। विश्व के कार्य-संचालन में इनका पूर्ण उपयोग है। छः द्रव्यों का विवेचन पहले अध्याय में दिया जा चुका है। नव तत्वों में अजीव के चार-(अजीव, पुण्य, पाप और वन्ध) और जीव के पांच (जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष) भेद हैं। इन में जीव और अजीव ये दो मूल तत्व हैं। पुण्य, पाप और वन्ध के द्वारा आत्मा कर्मों से वन्धती है और फलस्वरुप भौतिक सुख एवं दुख मिलता है। अतःएव ये मुक्ति के बाधक हैं। आस्रव कर्म ग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था है इसलिये यह भी मुक्ति की बाधक है। संवर से आगामी कर्मों का निरोध होता है और निर्जरा से पहले वन्धे हुए कर्म टूटते हैं, आत्मा उज्जवल होती है, इसलिए ये दोनों मोक्ष के साधक हैं। मोक्ष आत्मा की कर्म-मल रहित विशुद्ध

---

१. "दर्शन के परिपार्श्व मे"–आचार्य श्री तुलसी-जैन भारती १-११-८०

अवस्था है।

नौ तत्व को समझने के लिए जैन ग्रन्थों में तेरह द्वार का विवरण आया है। यह राजस्थानी भाषा में लिखा है। तेहरवाँ द्वार में संक्षिप्त में नव तत्वों को समझाया गया है:—

अथ तेरमूं तलाव द्वार कहे छेः—

तलाव रूप जीव जाणवो। अतलाव रुप अजीव जाणवो। निकलता पाणी रुप पुण्य, पाप जाणवो। नाला रुप आस्रव जाणवो। नाला बंध रुप सवर जाणवो। मोरी करी ने पाणी काढे ते निर्जरा जाणवो। माहिला पाणी रुप बंध जाणवो। खाली तालाव रूप मोक्ष जाणवो।

तलाव रे नालो ज्यॉं जीव रे आस्रव
हवेली रे वारणो ज्यॉं जीव रे आस्रव
नाव रे छिद्र ज्यॉं जीव रे आस्रव

तलाव रो नालो रुंधे ज्यों जीव रे आस्रव रुंधे ते सवर
हवेला रे वारणो रुंधे ज्यों जीव रे आस्रव रुंधे ते सवर
नाव रे छिद्र रुंधे ज्यों जीव रे आस्रव रुंधे ते संवर
तलाव रो पाणी मोरियादिक करी ने काढे ज्यों जीव भला भाव प्रवर्तावी ने कर्म रुपीया पाणी काढे ते निर्जरा।
हवेली रो कचरो पूंजी पूंजी ने काढे ज्यों भला भाव प्रवर्तावी ने जीव कर्म रुपीयो कचरो काढे ते निर्जरा।
नाव रो पाणी उलेची उलेची ने काढे ज्यों जीव भला भाव प्रवर्तावी ने जीव कर्म रुपीयो पाणी काढे ते निर्जरा।
कर्म ग्रहे ते आस्रव कहीजे, कर्म रोके ते संवर कहीजे, देश थकी कर्म तोड़ी देश थकी जीव उज्जव थाय तेह ने निर्जरा कहीजे। जीव

मंघाते कर्म बंधाणा ते बंध कहीजे। समस्त कर्म मुकावे ते मोक्षः कहीजे।

आत्मा (Soul)

आत्मा जीव का पर्यायवाची शब्द है। अकेले चेतन का आत्मा और शरीर सहित चेतन को जीव कहते हैं। यह कहने मात्र तो भेद है। वास्तव मे इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। मूलतः आत्मा एक ही है परन्तु उसकी विभिन्न आठ परिणतियां है।

१. द्रव्य आत्मा:- यह चैतन्यमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। इसको मूल आत्मा कहते हैं। यह मूल चैतन्य का केन्द्र है। उसकी परिधि मे अनेक तत्व काम करते हैं। उस चेतन तत्व के बाहर कषाय का वलय है।

२. कषाय आत्मा:- क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों में जीव की प्रवृत्ति कषाय आत्मा है।

३. योग आत्मा:- मन, वचन और काया इन तीनों में जीव की परिणति योग आत्मा है।

४ उपयोग आत्मा- यह जीव की ज्ञान-दर्शनमय परिणति है। "उपयोग लक्षणो जीव:" जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है बोधरुप व्यापार।

५. ज्ञान आत्मा:- यह जीव की ज्ञानमय परिणति है।

६. दर्शन आत्मा:- जीव आदि तत्वों के प्रति यथार्थ या अयथार्थ श्रद्धान करना है।

७. चारित्र आत्मा:- कर्मों का निरोध करने वाला जीव का परिणाम चारित्र आत्मा है।

८. वीर्य आत्मा:– जीवत्व की अभिव्यक्ति के माध्यम है उत्थान, बल और वीर्य जिसमे वीर्य आत्मा जीव का सामर्थ्य विशेष है।

इस तरह द्रव्य आत्मा मूलत: जीव है और शेष सात आत्माओं में से कोई उसका लक्षण है, कोई गुण है तो कोई दोष। जिस प्रकार एक मूल आत्मा की सात मुख्य-मुख्य परिणतियां बतलाई गई है, उसी प्रकार उसका जितने भी प्रकार का परिणमन होता है, उतनी ही आत्माएँ अर्थात् अवस्थाएँ है। सारांश यह है कि आत्मा परिणामी नित्य है। उसकी अवस्थाए जन्म के अनुसार बदलती रहती हैं और वे अनन्त है। आत्मा नित्य है तो अनित्य भी है। द्रव्य नय की अपेक्षा से उसका चैतन्य स्वरुप कदापि नष्ट नही होता इसलिए वह नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित होकर रहते है तो कभी विकसित होकर, कभी सुख में तो कभी दुख में। इसलिए पर्याय नय की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रुपों में वह परिणत होता है इस कारण से वह अनित्य है।

आत्मा का अस्तित्व:— आत्मा सचेतन है। निर्मलता पानी का धर्म है, ताप अग्नि का धर्म है वैसे ही आत्मा का भी अपना धर्म हैं। वह है ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य(शक्ति)। इसलिए आत्मा को अनन्त-चतुष्टयात्मक माना गया है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चार चतुष्टय हैं।

संसारी आत्मा में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्रमश: विशेष बोध रुप अनन्त ज्ञान, सामान्य बोध रुप अनन्त दर्शन, अलौकिक आनन्द रुप अनन्त सुख व आध्यात्मिक शक्तिरुप अनन्त वीर्य प्रादुर्भूत होता है। मुक्त आत्मा में ये चार अनन्त-अनन्त चतुष्टय सर्वदा बने रहते हैं। संसारी आत्मा स्वदेह परिमाण एवं पौदगलिक कर्मों से युक्त होती है,

साथ ही परिणामनशील, कर्त्ता, भोक्ता एवं सीमित उपयोगयुक्त होती है। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति व शरीर का पौद्गलिक सहयोग इन दोनों के मिलने से शरीर-युक्त आत्मा का अस्तित्व प्रकट होता है। आत्मा का स्वभाव है-जानना व देखना। उसमें ज्ञाताभाव व दृष्टाभाव है। "जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया"- इस आगमवाणी के अनुसार जो आत्मा है वही ज्ञाता है और जो ज्ञाता है वही आत्मा है। यदि आत्मा दृष्टा है तो शरीर दृश्य। आत्मा ज्ञाता है तो शरीर उसका ज्ञेय है। आत्मा है फिर भी वह दृष्ट नहीं है। उसके दर्शन मे बाधक तत्व दो है राग और द्वेष। ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते है इस कारण उसका दर्शन नहीं होता। राग द्वेष से छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाती है। निष्कर्म होते ही वह दृष्ट हो जाती है।

आत्मा अमूर्त है पर निराकार होते हुए भी वह साकार है क्योंकि जिस शरीर में प्रवेश करती है, उसका आकार ले लेती है। उसमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श कुछ भी नही है; न हल्कापन है न भारीपन; लिंगभेद भी नहीं है। इसमें न संगठन होता है और न विघटन, न सिकुड़न होता है और न फैलाव; न स्कन्ध बनता है न कुछ और वस्तु। इस लोक में एक भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ वह पायी न जाती हो और जहाँ उसका अस्तित्व न रह सके। आत्मा एक ऐसी अरूपी सत्ता है जो प्राणी की इन्द्रियों व मन से भी परे है। पदार्थों को वास्तविक रूप से समझने का गुण आत्मा में है इन्द्रियों में नहीं। इन्द्रियां तो केवल वस्तु विशेष का ज्ञान करने या विषय-भोग करने का माध्यम है। आत्मा के शरीर से चले जाने पर इन्द्रियां कुछ भी कार्य नहीं कर पाती। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान और किया हुआ भोग का स्मरण आत्मा को सहज रूप में

रहता है। इन्द्रियों के नष्ट होने पर उनके द्वारा किये गये विषय-भोग व प्राप्त ज्ञान को स्थिर रुप में रखने वाला अगर कोई तत्व है तो वह आत्मा है।

अनुभव द्वारा आत्मा का बोध:– स्वय के अनुभव के आधार पर ही आत्मा का अस्तित्व जाना जा सकता है। 'मैं हूं," "मैं सुखी हूं", "मैं दुखी हूं" इस प्रकार के अनुभव शरीर को नहीं परन्तु शरीर से भिन्न जो वस्तु, जिसे आत्मा कहते हैं, उसे होता है। जिस तरह कोल्हू द्वारा तिल से तेल को, मन्थन द्वारा दूध से घृत को पृथक किया जा सकता है उसी तरह भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मा की शरीर से पृथकता का अनुभव किया जा सकता है। उत्कृष्ट ज्ञान प्रज्ञा की सहायता से ही आत्मा को जाना व देखा जा सकता है। यद्यपि हम हवा को नहीं देख सकते फिर भी स्पर्श के द्वारा हमें उसका बोध होता है। इसी प्रकार हम आत्मा को अपने अनुभव ज्ञान की शक्ति से उसके अस्तित्व का होना जान सकते हैं।

एक अन्धेरे कमरे में एक पर्दे पर सिनेमा की तस्वीरें दिखाई पड़ती हैं। ज्यों ही कमरे में प्रकाश आता है तस्वीरों का दिखना बन्द हो जाता है। यद्यपि तस्वीरें अब भी पर्दे पर हैं फिर भी हम उन्हें देख नहीं सकते। इसी प्रकार हमारे पूर्व-जन्म की घटनावलियां हमारी आत्मा के साथ सम्बन्ध किये हुए हैं परन्तु हमारे वर्तमान के सीमित इन्द्रियज्ञान व कर्मों के आवरण के कारण उन घटनावलियों का विस्तृत ज्ञान हमें नहीं हो पाता। अतः हम परिमित इन्द्रियज्ञान को मानसिक एकाग्रता, आत्मचिन्तन व धर्म व शुक्ल ध्यान के द्वारा विकसित करें तो सम्भव है हम अपने पूर्व-जन्म की समस्त घटनावलियों एवं अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

आत्मा अमर है, अजन्मा है, अनादि है, अनन्त है, नित्य है,

शाश्वत है। प्राणी की मृत्यु होने पर उसका शरीर तो नष्ट हो जाता है पर शरीर में रही आत्मा दूसरा शरीर धारण कर लेती है। आत्मा प्रकाश पुंज है व आनन्दमय है। आत्मा केवल हृदय के निकट ही नहीं है पर सम्पूर्ण शरीर के अणु अणु में व्याप्त है। शरीर का एक भी एसा अणु नहीं है जिसमें आत्मा अनुप्रविष्ट न हो। पुरुष(चेतन) समग्रतय आत्ममय है। इसलिए भगवान महावीर ने पुरुषाकार आत्मा का ध्यान किया। उन्होंने शरीर के हर अवयव में आत्मा का दर्शन किया। इससे देहासक्ति दूर होने में बहुत सहायता मिलती है। सूर्य की तरह आत्मा भी प्रकाश-स्वभाव वाली है परन्तु उसके दो रुप है:-आवृत व अनावृत। अनावृत चेतना अखण्ड व निरपेक्ष होती है। कर्मों के प्रभाव के कारण आवृत चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं। शरीर, आकृति, वर्ण, नाम, गौत्र, सुख-दुख का अनुभव, विविध योनियों में जन्म ये सब आत्मा को विभक्त करते हैं। इस विभाजन का हेतु कर्म है। कर्म-बद्ध आत्मा नाना प्रकार के व्यवहारों (विभाजनों) और उपाधियों से युक्त होती है। कर्म-मुक्त आत्मा के न कोई व्यवहार होता है और न कोई उपाधि। आत्मा के दो विशेष गुण है-सम्यक्त्व और चारित्र। सम्यक्त्व का अर्थ है सही दृष्टिकोण व चारित्र का अर्थ है आत्म-संयम। ये दोनों गुण ऐसे हैं जिनकी प्राप्ति से आत्मा अपने मूल स्वभाव को प्राप्त कर सकती है। आत्मा एक शुद्ध, बुद्ध और आनन्दमय तत्व है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय उसके विभाव हैं और ये ही आत्मा को विकृत बना देते हैं।

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तम मित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठियो ॥

आत्मा ही शरीर को सुख-दुख का अनुभव कराने वाली है और उनके क्षय का भी। सत्प्रवृति में लगी हुई आत्मा हमारे मित्र के

तुल्य है और दुष्प्रवृति में लगी हुई आत्मा हमारे शत्रु के तुल्य है।

सुख दुःख प्रदोनैव, तत्वत: कोपि विद्यते ।
निमित्त तु भवदे वापि तदिह परिणामिनि ।। (सम्बोधि)

सच्चाई यह है कि मानव को संसार में सुख-दुख का बोध कराने वाला कोई दूसरा नहीं है उसकी आत्मा ही है। दूसरा सुख-दुख की प्राप्ति कराने मे केवल निमित्त हो सकता है क्यों कि वह परिणामी है और उसमें बाह्य निमित्तों से भी विविध परिणमन होते रहते हैं।

इस जन्म में जिन कर्मों का फल भोगना बाकी रह जाता है उनको दूसरे भव मे भोगने के लिए उस आत्मा को पुनर्जन्म धारण करना ही पड़ता है। जीवात्मा को इस देह में जैसे बचपन, जवानी व वृद्धावस्था होती है, वैसे ही उसे अगले जन्म में भी प्राप्त होती है। इस शरीर में बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक हम नाना प्रकार के परिवर्तन देखते हैं। शरीर के अवयवों में परिवर्तन हो जाने पर भी आत्मा नहीं बदलती। जो आत्मा बचपन में हमारे शरीर में है वही वृद्धावस्था में भी रहती है। इस तरह बाहरी परिवर्तन होता रहता है आन्तरिक नहीं। यहाँ प्रश्न उठता है कि आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर मे कैसे प्रवेश करती है? उत्तर है:- सूक्ष्म शरीर(कार्माण शरीर) के द्वारा आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है।

उपनिषद में आत्मा का जो विवेचन आया है वह इस प्रकार है और आत्मार्थी के लिए मनन करने योग्य है:—

आत्मा वाऽऽरे मैत्रयि । द्रष्टव्य: श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्यश्च आत्मन: खलुदर्शनेन इदं सर्व विदितं भवति । (बृहदारण्यकोपनिषद)

हे मैत्रेयी ! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने व अनुभव करने योग्य है । अपने आपको (आत्मा को) जान लेने पर सब कुछ जान लिया है । यही अमरत्व प्राप्त करने का साधन है, यही आत्म कल्याण का मार्ग है । अपने आपको जान लेना ही सब से बड़ी उपलब्धि है ।

आत्मा की गरिमा को समझाते हुए कहा गया है:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अपनी आत्मा द्वारा अपना उद्धार करो, आत्मा का पतन मत करो । आत्मा ही अपना बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है ।

न मुक्तिर्जपनाद्होमादुपवास शतैरपि ।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति जीवभृत ॥

जप, हवन तथा सैकड़ों उपवास करने से भी मानव को मुक्ति नहीं मिल पाती, पर उसे आत्म-ज्ञान होने पर जीव और ब्रह्म की एकता की अनुभूति हो जाती है और उसकी आत्मा कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाती है । "मैं कौन हूं?" "क्या हूं?" "संसार में किस लिये आया हूं?" "यहां कहां से आया हूं?" इन प्रश्नों के उत्तर की प्राप्ति करना मानव के लिए आत्म ज्ञान है ।

सुयकडं दुयकडं वयि अप्पणा यायि जाणाति ।
ण य णो अण्णो कि जाणाति सुयकडं एवं दुयकडं ।
घोर पिता पससति पुणी पिलारी हिण्जसि ।
ए से एतावताऽयोरेण से इताघताऽगुणी ॥
एणगरसवयणा घोरे ए गस्य वयणगुणी ।
अत्प अप्पा पियणसि जे या उत्तमागिणो ॥

अपने शुभ या अशुभ कर्मो का बोध अपनी आत्मा को ही है। साधारण मनुष्य नही जान सकता, अतीन्द्रिय ज्ञानी ही जान सकता है। यदि लोग चोर की प्रशंसा करे और साधु की निन्दा तो उससे साधु चोर नहीं हो सकता। दूसरी ओर किसी व्यक्ति को चोर कहने मात्र से ही न तो वह 'चोर' हो जाता है और न किसी व्यक्ति का साधु कहने से वह 'साधु' हो जाता है। चोर या साधु सम्बन्धी ज्ञान मनुष्य स्वयं जानता है या फिर 'सर्वज्ञ' जानते हैं।

मनुष्य के कुछ कर्म ऐसे भी हो सकते हैं जो कि दूसरों की निगाह में न आये एव गुप्त रहे या कोई कर्म ऐसा भी हो सकता है जिसे उसने बुरी नीयत से किया है पर दूसरों को उस कर्म से बुराई न दिखती हो। अपने कर्मो के बारे में मनुष्य स्वयं ही जानता है कि अमुक कर्म उसने किस भावना से किया है। दूसरे लोग तो अपनी वृति के अनुसार किसी मनुष्य की प्रशसा एवं किसी की निन्दा करते हैं परन्तु इससे उस मनुष्य के वास्तविक स्वरूप में कोई फर्क नही आता। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि दूसरों के द्वारा की गई अपनी स्तुति या निन्दा पर ध्यान न देकर वह स्वयं अपने हृदय को टटोले और विवेक रूपी कसौटी पर परखे कि जो कर्म उसने किया है वह अच्छा है या बुरा क्योकि मनुष्य के कर्म की निन्दा एव प्रशसा मिथ्या भी हो सकती है।

सदर्भ सूत्र:

१. जीव अजीव, जैन दर्शन मनन व मीमांसा—लेखक युवाचार्य महाप्रज्ञ।

२. जैन सिद्धान्त दीपिका, दर्शन के परिपार्श्व में—लेखक आचार्य श्री तुलसी।

3. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रथ।

जीव सम्बन्धी तथ्य : वैज्ञानिक दृष्टिकोण

संसार में सभी जीव स्थूल जीवों से लेकर सूक्ष्म जीवाणु (Bacteria) तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषाणुओं (Micro-Organisms & Viruses) तक सभी जीव के विविध रूप हैं। इन सब में जीवन के सभी लक्षण पाये जाते हैं जो जीव विज्ञान के विशेषज्ञों ने सजीव वस्तुओं में गिनाये हैं जैसे वृद्धि करना, किसी उद्दीपन के जवाब में प्रतिक्रिया करना, अपचय यानि विनाशकारी और उपचय यानि निर्माणकारी क्रियाएं करना इत्यादि। वैज्ञानिकों की दृष्टि में जीव का सब से बड़ा और महत्वपूर्ण गुण है प्रजनन शक्ति अर्थात् अपने जैसे दूसरे जीव की उत्पत्ति करना। अलैंगिक जनन से लेकर बीज और अण्डा बनाने वाले लैंगिक जनन तक सभी जीव जन्तु इस प्राकृतिक नियम से बंधे है-आंखों से परे जगत में भी और कोशिका के स्तर पर भी। कोशिका (cell) जीवन की मूल इकाई है। प्राणियों का शरीर रचना विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं से हुई है। इन्हीं से विभिन्न प्रकार के ऊत्तक (tissues) बनते हैं। इनसे बनते हैं विभिन्न अंग जिनका अपना विशिष्ट कार्य-निर्धारित होता है। कोशिका भोजन करती है, उसको हजम करती है और अवांछित पदार्थों को विसर्जित करती है। वह वृद्धि करती है और किसी भी परिवर्तन के प्रति जागरूक रहकर अपनी कार्य प्रणाली तय करती है। ऐसा करते हुए भी वह अपने मूल कार्य क्षेत्र से कभी भी नहीं भटकती। यह भी अनुसंधान से साबित हो चुका है कि इसे रातदिन अंधेरा-उजाला, भूख-तृप्ति, बीमारी-स्वास्थ्य, सुख-दुख, आदि ब्रह्माण्डीय गतिविधियों सभी की पूरी पूरी जानकारी रहती है। कोशिका का सबसे महत्वपूर्ण भाग केन्द्रक (nucleus) है जिसको नाभिक भी कहते हैं जो लगभग बीच में होता है। कोशिका अपने आप में स्वतन्त्र जीव की तरह भी रह सकती है जैसे कि विषाणु

(Virus), जीवाणु (Bacteria) और अमीबा (एक कोशिका वाले जीव) आदि। हर कोशिका अपने आप में एक जीव बनाने का रासायनिक कार्यालय है, जिसमे उस जीव जैसे विविध जीव बनाने के लिए आवश्यक कच्चा माल भरा रहता है। प्रत्येक कोशिका में भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के केन्द्रक अम्ल (nucleus acid) होते है। डी-आक्सी-रिबो (Deoxy-ribo nucleuic acid D.N.A.) नामक केन्द्रक अम्लों के अणुओं मे सर्वांगीण मूल योजनाएं (Master Plan) निहित होती है। रिबो-न्यूक्लिक-अम्ल (Ribo nucleuic acid R N A) नामक केन्द्रक अम्लो के द्वारा इन योजनाओं की क्रियान्विति के सूत्र निर्दिष्ट किये जाते है। अन्ततोगत्वा अनेक अन्य प्रोटीनों जैसे राइबोसोम आदि को सरचना की जाती है या वे स्वयं केन्द्रक में पैदा होते हैं। डी०एन०ए० और आर०एन०ए० के अणुओं की सरचना में शर्करा फास्फेट एव नाइट्रोजन मूलक रासायनिक पदार्थ काम में आते है। डी०एन०ए० और आर०एन०ए० में सरचना की दृष्टि से कुछ समानताएं भी है और कुछ असमानताएं भी। आर.एन.ए. सम्पूर्ण कोशिका मे मिलता है किन्तु डी.एन.ए केन्द्रक मे ही रहता है।

युवा देह में ६०० से १००० खरब तक की कोशिकाओं का पाया जाना आंका गया है। देह का यह अजायबघर नर कोशिका यानि शुक्राणु और मादा कोशिका यानि डिंबाणु के मिलन से निषेचित हुई कोशिका से बना होता है। यह कोशिका एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह के क्रम से बढ़ती हुई नौ-दस महीनों में मानव शिशु का रूप ग्रहण कर लेती है। मुश्किल से एक मिलीमीटर के हजारवें हिस्से जितनी बड़ी कोशिका में चारों ओर की झिल्ली के अन्दर जीव द्रव्य (protoplasm) जिसे कोशिका द्रव्य (citoplasm) भी कहते हैं, भरा रहता है।

जीवन क्या है, इसका वैज्ञानिक उत्तर इसी केन्द्रक (nucleus) में स्थितगुणसूत्रों (Cromosome) को बनाने वाले महारसायन डी० एन० ए० में निहित है। यह महाअणु सीढ़ी की तरह होता है जिसके डंडे फॉस्फेट और राइबोज शर्करा से बनते है। पेंड़ियां एडिनिन–थाइमिन तथा ग्वैनिन–साइटोसिन की जोड़ी से बनती हैं। इन चार रसायनों में से कोई भी तीन मिलकर एक "शब्द" बनाते हैं और कई शब्द मिलकर एक अमीनो एसिड। बीस अमीनो एसिड के विविध क्रमों से तरह तरह के प्रोटीन बनते हैं। इस तरह डी० एन० ए० ही सभी कोशिकाओं का अधिनायक (नियंत्रक) है। यह अमीबा से आदमी तक सब की कोशिकाओं में विद्यमान है या सर्वव्यापी है। यही २३ गुण सूत्रों (cromosome) के रूप में पिता से और २३ गुण सूत्रों के रूप में माता से कुल ४६ गुण सूत्रों के रूप में संतान की हर कोशिका में मौजूद रहता है। यही उन पैतृक संस्कारों का वाहक है जिन्हे "जीन" कहते हैं। "जीन" नामक बहुत सूक्ष्म जीवन–तत्व आनुवांशिक गुण दोषों का संवाहक होता है। "जीन" की रचना डी० एन० ए० नामक स्कन्धों से होती है।

प्रत्येक कोशिका में २३ युगलों में गुणसूत्र विद्यमान होते हैं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इनमें केन्द्रक अम्ल (nucleuic acid) के अणुओं के रुप में आनुवांशिक संकेत भरे होते हैं। इनमें संग्रहित सूचनाओं का आनुमानिक परिमाण यदि एक पुस्तक में संग्रहीत किया जाय तो उस पुस्तक की पृष्ठ संख्या पांच लाख तक जा पहुंचेगी।

डी० ओक्सी० रिबो केन्द्रक अम्ल (Deoxyribo nucleic acid D.N.A.) की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह जीवन

मूलक रसायन होने से अपनी अनुकृतियां अर्थात् संताने बनाने मे सक्षम है। इस विशेपता के कारण वैज्ञानिक यह मानते हैं कि सृष्टि में पहले डी० एन० ए० का उद्भव हुआ। उसके उद्भव के साथ ही जीवन के आदि रूप का भी उद्भव हुआ।

प्रकृति में मिलने वाले ९२ रसायनिक तत्वों मे से कुल १६ तत्वों से ही मारा चेतन जगत बना है। अपने साथ शृंखलाएं और वलय बना सकने के कारण कार्बन का जीवजगत में महत्वपूर्ण योग है। वैज्ञानिकों के अनुसार मुख्यत: चार तत्वों की यह लीला है:-कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और आक्सीजन। इनके हजारों संभावित संयोगों में से केवल २० अमीनो एसिड की लड़ी से जीवन-प्रेरक प्रोटीन बने है। इन हजारों प्रोटीनों को सही समय में सही जगह बनाने के लिये केवल चार रसायनिक अणुओं की सर्वव्यापी भाषा काफी है, जो डी० एन० ए० के रूप में रची गयी। ओपारिन और हाल्डेन से लेकर मिलर और फाक्स तक अनेक जीव वैज्ञानिक, आज से कोई चार अरब साठ करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद के एक अरब वर्षो में जैसी परिस्थितियां रही होंगी, उनकी नकल प्रयोगशाला में करके डी० एन० ए० तो नहीं, लेकिन उनके पूर्वज रसायनिक अणु बना चुके है। ओपारिन और फॉक्स ने तो 'कोएसर्वेट' और 'माइक्रोस्फियर' के रूप में कोशिका से मिलती जुलती रचनाएं भी बनाली। इस तरह इन सब का विचार है कि जीवन की नीव कुछ अणुओं के परस्पर सयोग से रखी गई। डी० एन० ए० के बनाने के लिये भी डी० एन० ए० पोलीमरेज एंजाइम की जरूरत होती है। अब वही अण्डे-मुर्गी वाला सवाल उठता है कि पहले डी० एन० ए० हुआ या पहले एंजाइम। वैज्ञानिक कहते हैं कि दोनों एक साथ हुए। कैसे? मात्र संयोगवश। इस अटकल का कोई प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि ३ अरब २० करोड़ वर्ष पूर्व के जीवाणु

नो जीवाश्मों मे मिले है। पर आदिम रसायनिक अणुओं के कोई चिन्ह बचने ही नहीं भले ही वे महाअणु ही क्यों न हों। एक मिलीमीटर लम्बे डी० एन० ए० में लगभग ३ अरब परमाणु आंके गये है। इनका मॉडल बनाकर फोटो लिया जाए तो छापने के लिये १२० किलोमीटर लम्बा कागज चाहिये। आदमी की एक कोशिका में डी० एन० ए० पर साठ अरब शब्द आंके गये हैं।

हॉयल और क्रिक जैसे वैज्ञानिकों ने यह भी अटकल लगाई है कि जीवन का प्रथम बीज किसी उल्का के साथ किसी अन्य ग्रह से पृथ्वी पर टपका। फ्रायड हॉयल जो कि केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक है, का यह भी विश्वास है कि इस सृष्टि में आकाश गंगा के बाहर किसी स्थान पर 'मनुष्य' से अधिक विकसित और बौद्धिक (intelligent) सभ्यता अवश्य ही मौजूद है। जिस तरह से हम प्रयोगशाला में चूहों तथा कीड़ों को किसी बर्तन में बन्द करके उन पर प्रयोग करते हैं उसी तरह हमारी पृथ्वी भी इस अज्ञात विकसित सभ्यता की प्रयोगशाला है। इससे अधिक बुद्धिमान जीव ने आकाश गंगा से (हमारे सूर्य के परिवार में)पृथ्वी पर अनुकूल वातावरण देखकर जीव का बीज बोया है। हॉयल का अनुमान है कि अज्ञात सभ्यता प्रतिक्षण पृथ्वी पर जीवन के विकास और हलचलों पर सूक्ष्म नजर रखे हुए हैं। हम चाहे इस अज्ञात शक्ति को न देखें पर हमें तथा हमारी एक एक हरकत को बारीकी से देखा जा रहा है। डॉ. हॉयल का कथन है कि अज्ञात शक्ति द्वारा सूक्ष्म जीवाणुओं का आक्रमण हम पर होता रहता है। सर्दी, खांसी और फ्लू की बीमारी का असली कारण अज्ञात सुपर इंटेलीजेन्ट (super intelligent) सभ्यता का प्रभाव है।

वैज्ञानिकों के अनुसार जीव का सबसे बड़ा गुण प्रजनन है

श्रौर उसके श्रनुसार जीव जन्म लेता है श्रौर मरता है । प्रश्न उठता है कि यदि केवल अपनी जैसी संताने छोड़ जाना ही जीवन का लक्ष्य है तो फिर उसके वाद भी मनुष्य को तुष्टि क्यों नहीं मिलती ? फिर भी क्यों वेचेन रहता है श्रादमी ? " जीवन सर्व भूतेपु " सव प्राणियों में जीवन "मैं हूँ" श्रर्थात् जिससे वे जीते है वह "मैं हूँ" । यह गीता के सातवें श्रध्याय के नवें श्लोक में वताया गया है। सव प्राणियों में डी.एन.ए. है, पर डी.एन.ए. तो मुर्दे में भी होता है । फिर वह क्या था, जो देह को जीर्ण वस्त्र की तरह त्याग चला गया ? शायद वह वही था, जो सव में व्याप्त है, फिर भी जो सव को दिखाई नहीं दे रहा है, क्यों कि वह श्रमूर्त है । श्रमूर्त होने के कारण ऐसे रहस्यमय जीवन (श्रात्मा) के वारे में विज्ञान क्या उत्तर दे पायेगा? कौन जाने कव तक यह प्रश्न श्रनुत्तरित रहेगा ?

संदर्भ—
"रासायनिक अणुओं की लीला"—लेखक रमेशदत्त शर्मा और डा. पी. एम. सिगल—धर्मयुग १३-१२-८१ से १६-१२-८१ ।
"जीवन विज्ञान"—लेखक मुनि महेन्द्र—प्रेक्षा ध्यान, फरवरी १६८३ ।

मूर्त और अमूर्त का आपसी सम्बन्ध

चेतन का अचेतन के साथ व अचेतन का चेतन के साथ या मूर्त का अमूर्त के साथ व अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है परन्तु यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यह एक प्रश्न है। चेतन (जीव) और अचेतन (कर्म) का सम्बन्ध वास्तव में अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध नहीं है परन्तु चेतन की सशरीर मूर्त अवस्था का मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध है। कर्म का कर्ता जीव अचेतन नहीं हो सकता वह तो चेतन ही होगा। शरीरधारी जीव अमूर्त नहीं हो सकता। वर्तमान में यह जीव मूर्त है क्योंकि इसके साथ सूक्ष्म शरीर–कर्माण और तैजस–बन्धे हैं। प्राणी की मृत्यु होने पर जीव स्थूल शरीर तो छोड़ देता है परन्तु तैजस और कार्माण शरीर जीव के साथ जाते हैं। जिस दिन जीव सब कर्मों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है उस दिन चेतन अमूर्त हो जाता है और तब उसका शरीर के साथ बन्धन का कोई प्रश्न नहीं उठता। यद्यपि मुक्त–आत्माएँ भी पुद्गल–व्याप्त आकाश में स्थित हैं परन्तु कर्म–पुद्गल उनसे सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। वे यों ही लोक में फैले हुए हैं। उनमें फलदान की शक्ति भी नहीं होती। संसारी जीवों में कर्म–बन्धन का कारण विद्यमान होता है। अतः जीव कार्माण शरीर द्वारा कर्म–पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है। उन कर्म–पुद्गलों का आत्मा के साथ एकीभाव होता है और फलस्वरूप उनमें फल देने की शक्ति आजाती है। समय पाने पर ये कर्म–पुद्गल अपना फल देकर आत्मा से अलग जा पड़ते हैं।

दूध में घृत और मिट्टी में स्वर्ण की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जैसे घृत दूध में उपलब्ध होता है परन्तु एक बार घृत को दूध से निकालने के बाद उस घृत को पुनः

दूध रूपेण परिणत करना सम्भव नहीं होता अथवा जैसे स्वर्ण मिट्टी में उपलब्ध होता है पर एक बार उसे मिट्टी से अलग करने के बाद वापस उसको मिट्टी के साथ उसी रूप में मिलाया जाना सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार जीव शरीर में उपलब्ध होता है एवं एक बार स्थूल व सूक्ष्म शरीरों से सम्बन्ध छूट जाने पर जीव का वापस शरीर के साथ बन्धना असम्भव है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि घृत व स्वर्ण की तरह जीव मूलतः अमूर्त या शरीर रहित है परन्तु शरीर के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपेण सश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त होने के कारण वह अपने अमूर्तिक स्वभाव से च्युत होता हुआ उपलब्ध होता है और इस कारण वह मूलतः अमूर्तिक न होकर कथंचित मूर्तिक हो जाता है। मुक्त हो जाने पर जीव का शरीर से कोई सम्बन्ध नही रहता।

जब कर्म–पुद्गल जड़ हैं तो फिर वे यथोचित कर्मों का फल कैसे दे सकते हैं? यह भी एक प्रश्न है। यह सही है कि कर्म–पुद्गल यह नहीं जानते कि अमुक प्राणी को आत्मा ने अमुक काम किया है इसलिए उसे उसके योग्य फल दिया जाय। किसी आत्मा की प्रवृत्ति या प्राणी की क्रिया के द्वारा कर्म–पुद्गल आकृष्ट होते हैं, जो शुभ भी होते हैं और अशुभ भी, उनके संयोग से प्राणी के आत्मा को वैसी ही प्रवृत्ति हो जाती है। इस कारण उस आत्मा को शुभ या अशुभ प्रवृत्ति के अनुसार फल अवश्य मिलता है। मानव को उन्मत्त बनाने की ताकत शराब में कब आई और प्राणी को मारने की बात विष ने कब व कैसे सीखी, इन प्रश्नों का संतोषजनक हल नहीं निकलता फिर भी शराब पीने से नशा होता है और विष खाने से मृत्यु। पथ्य भोजन मानव को आरोग्य बनाना नहीं जानता और दवा रोग मिटाना नहीं जानती फिर भी पथ्य भोजन से स्वास्थ्य लाभ होता है और औषधि सेवन से रोग मिटता

है। अगर बाह्य रूप से ग्रहण किये हुए वस्तु-पुद्गलों का इतना असर होता है, तो आन्तरिक प्रवृत्ति से ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर असर होने में हमें तनिक भी सदेह नहीं करना चाहिये। जैसे उचित साधनों का संयोग होने से विष और औषधि दोनों की शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है वैसे ही संवर, तप, ध्यान, भावों की निर्मलता, एकाग्रता आदि आत्म-शोधन साधनों से कर्मों की फल देने की तीव्र शक्ति में परिवर्तन लाया जा सकता है। इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है और कर्म की विपरीत फल देने की शक्ति को कम करता है।

कर्म का उपरोक्त सिद्धान्त मनुष्य के व्यवहारिक जीवन में आशा, उत्साह और स्फूर्ति का सचार करता है। उसकी फल प्राप्ति पर पूर्ण विश्वास होने के बाद उसमें निराशा, अनुत्साह और आलस्य तो रह ही नहीं सकते और सुख दुख के झोंके भी मनुष्य को विचलित नहीं कर सकते।

शरीर और चेतना का सम्बन्ध

यद्यपि शरीर और चेतना दोनों एक दूसरे से भिन्न धर्मक हैं फिर भी इनका सम्बन्ध अनादिकाल से है और वे किसी प्रकार से आपस में एक नहीं बन सकते। किन्तु उनमें सामान्य गुण होने के नाते वे अभिन्न भी हैं और इसलिए उनमें सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। चेतना शरीर का अधिष्ठान है, निर्माता है, इसलिए इन दोनों का एक दूसरे का क्रियात्मक व प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध है।

शरीर का विकास चेतना के विकास पर आधारित है। प्रत्येक जीव में जो जो इन्द्रियाँ और मन विकसित होते हैं उनकी इन्द्रियाँ और मन के ज्ञान तन्तु स्वतः बनते हैं। वे ज्ञान तन्तु ही इन्द्रिय और मानस ज्ञान प्राप्त करने के साधन होते हैं। जब तक वे स्वस्थ रहते हैं तब तक इन्द्रियाँ और मन स्वस्थ रहते हैं। यदि ज्ञान तन्तु शरीर से निकल जांय तो इन्द्रियों में बोध (जानने) की क्षमता नहीं रहती।

आत्मा जब तक शरीर में है, शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं है इसलिये आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। देह से मुक्त होने के बाद आत्मा पर शरीर की परिणति का कोई असर नहीं पड़ता; किन्तु दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के लिए शरीर बाधक भी हो सकता है और सहायक भी।

विषय वस्तु का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है। जब तक शरीर पूर्ण रूप से विकसित नहीं होता तब तक वह विषय वस्तु को ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ नहीं बनता। मस्तिष्क व इन्द्रियों की न्यूनाधिकता होने पर ज्ञान प्राप्त करने की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है। इसका भी यही कारण है कि सहवर्ती अवयवों की सहायता के बिना ज्ञान का भी उपयोग नहीं हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का निमित्त कारण और कार्यभाव का सम्बन्ध है। इसलिये जब शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है तो फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे? यह एक प्रश्न है। बहुत से व्यक्तियों की देह का पूर्ण विकास संभव होने पर भी उनकी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और कई व्यक्तियों की देह का अपूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि शरीर से आत्मा भिन्न है।

चेतनामय होना आत्मा का गुण है। निर्जीव शरीर में चेतना नहीं पायी जाती क्योंकि उसमें आत्मा नहीं है और शरीर से शून्य आत्मा की चेतना का सामान्य व्यक्तियों को प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। सामान्य व्यक्तियों को केवल शरीर-युक्त आत्मा की चेतना का ही अनुमान के द्वारा बोध होता है। चैतन्य शक्ति सत्ता रूप में सब जीवों में समान होती है पर उन सब में उसका विकास समान रुप से नहीं होता, अपितु क्रमिक होता है।

आत्मा के बिना चिन्तन, जप और बुद्धिपूर्ण गति अगति नहीं होती तथा शरीर के बिना आत्मा का प्रकाश (अभिव्यक्ति) व्यक्त नहीं होता। इसलिए कहा गया है कि *"द्रव्य निमित्त संसारिणां वीर्य मुप जायते"* अर्थात् संसारी आत्माओं की शक्ति का प्रयोग पुद्गलों की सहायता से होता हैं।

चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिस चेतना में स्वानुभूति होती है, सुख दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है चाहे वह अपनी अनुभूति को व्यक्त करे या न करे, उसको स्वयं को व्यक्त करने के साधन मिले या न मिले परन्तु वह आत्मा तो है ही।

शारीरिक चेतना में इतनी अधिक शक्ति होती है या यों कहा जाय कि मानवीय मस्तिष्क का अधिक क्रियाशील व सशक्त भाग जिसे अवचेतन मन कहा जाता है इतना जागृत और क्रियाशील होता है कि जब कोई समस्या सुलझाने से नहीं सुलझती हो, तो मन बहुत बेचैन और व्यथित हो जाता है। ऐसे समय में अवचेतन मन में यकायक न जाने कहां से समस्या के ऐसे समाधान सूझ पड़ते हैं

कि हमें आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इसे चाहे सृष्टा की अनुकम्पा कहा जाय या अवचेतन मन की जागृत अवस्था। यह सब चेतना की शक्ति का ही परिणाम है।

चेतन जीव समाज के समतुल्य

विज्ञान की दृष्टि से एक चेतन जीव की तुलना समाज से की जा सकती है। समाज के विभिन्न सदस्यों के विभिन्न कार्य होते हैं। कुछ लोग वहुत असाधारण दायित्व निभाते हैं और अन्य दूसरे ऐसा काम करते हैं जिनमें ज्यादा दिमाग लगाने की जरुरत नहीं होती। लेकिन समाज के विकास में सभी व्यक्तियों के हर तरह के कार्यों का योगदान होता है और कोई समाज चेतन और जागरूक रहे, इसके लिए यह जरुरी है कि वह अपने सभी कार्यशील सदस्यों की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहे। इसके लिए यह भी जरूरी है कि उसके सभी सदस्यों के काम में आपस में गहरा तालमेल रहे। यह तो रही समाज की बात।

अब इसी दृष्टि से देह की कोशिकाओं के समुदायों को भी परखें। मानव सभी जीवों में सबसे जटिल है। उसकी देह करोड़ों कोशिकाओं की बनी हुई है। ये कोशिकाएं सब तरह के काम करती हैं। जिनके कारण देह की सभी क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए कोशिकाओं का अंगों के रूप में सगठित होना पड़ता है। आमाशय और आंतों की कोशिकाएं शरीर में पोषण पहुँचाती है। फेफड़ों को कोशिकाएं देह में ऑक्सीजन का संचार करती हैं। हृदय और धमनियों की कोशिकाएं

शरीर की हर क्रिया में पोषण तत्व और ऑक्सीजन पहुँचाती है। शरीर के बाहर फेंकी जाने वाली छीजन को निकालने का काम गुर्दे की कोशिकाएं करती हैं। हर कोशिका की सब से बड़ी जरूरत यह होती है कि उसके आसपास और अन्दर का वातावरण सही सीमा तक गरम रहे, सही सीमा तक नमकीन रहे और उसकी अम्लीयता का स्तर भी उचित हो। जीवन के लिए आवश्यक तापमान, लवण, सान्द्रता और अम्लीयता अथवा क्षारीयता की सीमाएं बेहद बारीकी से नियन्त्रित की जाती है। इनमें से कुछ को नियन्त्रित करने वाली प्रक्रिया बाजार की कीमतों के उतार-चढ़ाव की तरह काम करती है।

जिस तरह समाज में राज्य द्वारा नियन्त्रण का काम होता है वैसे ही शरीर में मस्तिष्क और उससे नियन्त्रित होने वाली ग्रंथियों द्वारा नियन्त्रण का काम होता है। हमें स्वस्थ रखने के लिए शरीर में इस तरह करोड़ों नियामक क्रियाएं चलती रहती हैं। जब कोशिकाओं के भीतर और बाहर का परिवेश असन्तुलित हो उठता है, तब ऐसी परिस्थितियां बनने लगती हैं, जो अन्त में रोग अथवा विकृति का कारण बनती है।

रोग या जीर्णता की अनुपस्थिति मात्र ही नहीं बल्कि शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से पूरी तरह ठीक ठाक होना ही स्वास्थ्य की निशानी है। समाज भी स्वस्थ्य तभी कहलाएगा जब कि समाज के हर व्यक्ति में आपसी प्रेम, मेलजोल, आर्थिक व सामाजिक तालमेल नियन्त्रित हो।

संदर्भ : "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" १२ से १८-९-८२, डा० रमेश बिजलानी।

आत्मा की वैभाविक क्रिया और कर्मों का बन्धन

आत्मा का स्वभाव है जानना और देखना। ज्ञानानुभव और अनुभूति करना। जब आत्मा जानने और देखने की क्रिया से हट कर कोई भी अन्य क्रिया करने लगती है तब उसके साथ कर्मो का बन्धन शुरु हो जाता है। आत्मा के स्वभाव में राग व द्वेष का मिश्रण होते ही जानने व देखने की धारा बदल जाती है और वह कर्म-बन्धन का कारण बन जाती है। हमारी कोई भी प्रवृत्ति हो चाहे मन की चाहे वचन की और चाहे हमारे शरीर की हो, अगर हमारी आत्मा राग-द्वेष से प्रेरित है तो वह कर्मो से बद्ध होगी। अगर राग-द्वेष से प्रेरित नही है तो कर्म-पुद्गल आयेंगे और चले जायेंगे और आत्मा से कर्मो का बन्धन नहीं होगा। अन्य शब्दों में अगर हमारी आत्मा में राग-द्वेष रूपी आग प्रज्वलित न हो तो हम कर्म-पुद्गल रूपी ईंधन डालते जांय तो भी आग प्रज्वलित नहीं होगी यानि कर्म नहीं बन्धेंगे क्योंकि हमारे भीतर राग-द्वेष रूपी आग ही कर्म-पुद्गल रूपी ईंधन को प्रज्वलित करती है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि प्रवृत्ति का निरोध कोई महत्व नहीं रखता। आवश्यकता है राग-द्वेष का निरोध करने की। कर्मो का बन्धन राग-द्वेष से ही होता है। मात्र किसी वस्तु का ज्ञान होने से या वासना से या संस्कारों से या स्मृति से कर्मों का सम्बन्ध स्थापित नही होता। भगवान महावीर ने इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्याय की सातवी गाथा में कहा है:-

> रागो य दोपो विय कम्म बीयं, कम्मं च मोहण्ण भयं वयान्ति।
> कामं च जाई मरणस्स मूले, दुक्खं च जाई मरण वयान्ति॥

अर्थात् राग और द्वेष दोनों कर्म-बन्धन के बीज हैं। वही मोह है

परन्तु उपादान के बिना यानि मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता। इस उदाहरण में मूलभूत तत्व है मिट्टी। उसी तरह आत्मा में ज्ञान, चैतन्य, आनन्द व शक्ति के अन्य पर्यायों को उत्पन्न करने की क्रिया में मूलभूत वस्तु है शक्ति। कर्म कभी ऐसा उत्पादन नहीं कर सकते।

हमारा चैतन्य जब कर्मों से आवृत हो जाता है तब हम स्वयं को परतंत्र अनुभव करते हैं। आत्मा का सम्बन्ध शरीर से है। हमारा शरीर है इसलिए हमें भूख लगती है। भूख लगने के कारण हमें भोजन चाहिये। केवल भूख को मिटाने के कारण आदमी को सब कुछ करना पड़ता है–परिश्रम, व्यवसाय, नौकरी न जाने क्या क्या ? शरीर है इसलिए काम वासना है। काम वासना की प्रवृत्ति, आहार की प्रवृत्ति हमारी परतन्त्रता की सूचक है। स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों को समझना सापेक्ष दृष्टि से ही सम्भव है निरपेक्ष दृष्टि से नहीं।

मनुष्य नियति के अधीन है अथवा कर्म करने में स्वतन्त्र है, इस प्रश्न का वेदान्त ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया है। वेदान्त के अनुसार जब तक मनुष्य अविद्या के वशीभूत रहता है, तब तक वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। मोक्ष अथवा स्वतन्त्रता (आत्म-ज्ञान) विद्या द्वारा ही सम्भव है। जो मनुष्य इच्छा, तृष्णा अथवा वासनाओं का शिकार है, वह स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्र बनने के लिए सतत साधना द्वारा उसे आत्म–साक्षात्कार करना होगा। साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य की मनुष्यता इस स्वातन्त्र्य-सिद्धि में ही है क्योंकि यही एक ऐसा प्राणी है जो साधना द्वारा आत्म-संस्कार कर सकता है। पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं में यह शक्ति नहीं कि वे मनुष्य की भांति अपना

संस्कार कर सकें। वे अपनी सहज वृत्ति से ऊपर नहीं उठ सकते।

क्रिया करने में आदमी स्वतन्त्र है परन्तु प्रतिक्रिया में परतन्त्र। अनुमान करें:- एक आदमी नारियल या खजूर के पेड़ पर चढ़ जाता है। चढ़ने में वह स्वतन्त्र है परन्तु उतरने में स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह चढ़ गया इसलिए उसे उतरना ही पडेगा। चढ़ना क्रिया है तो उतरना उसकी प्रतिक्रिया है। उतरना कोई स्वतन्त्र क्रिया नहीं है। चढना व उतरना सापेक्ष क्रिया है। इसी प्रकार यदि प्राणी जन्मा है तो उसकी मृत्यु निश्चित है क्योंकि जन्म और मृत्यु सापेक्षिक है।

मोहम्मद साहब के एक शिष्य ने एक बार पूछा, "कौन से काम करने में हम स्वतन्त्र है और कौन से काम करने में हम परतन्त्र हैं? मोहम्मद साहब ने कहा, "अपना बांया पैर उठाओ"। शिष्य ने वैसा ही किया तो मोहम्मद साहब ने पुनः उसे कहा, "अब दूसरा पैर उठाओ"। शिष्य ने कहा- "यह कैसे सम्भव हो सकता है?" मोहम्मद साहब ने इस पर कहा कि बस एक पैर उठाने में तुम स्वतन्त्र हो परन्तु दूसरे पैर को उठाने में स्वतन्त्र नहीं हो। विष खाने में आदमी स्वतन्त्र है पर उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र। उसी तरह आदमी कार्य करने में स्वतन्त्र है पर उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र।

संदर्भ : डा० कन्हैयालाल सहल — "नियति का स्वरूप" — मुनि श्री हजारीमल ग्रंथ।

कर्म – पुद्गल

कर्म का सामान्य परिचय

कर्म शब्द का अर्थ सामान्यतया कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। कर्म-काण्ड में यज्ञ आदि क्रियाएँ कर्म रूप से प्रचलित है। पौराणिक परंपरा में व्रत, नियम आदि कर्म रूप माने जाते हैं। जैन दर्शन में कर्म का अर्थ इस प्रकार किया गया है:—

> आवारका अन्तराय कारकाश्च विकारकाः।
> प्रियाप्रियनिदानानि, पुद्गलाः कर्म संज्ञिताः॥

जो पुद्गल आत्मा (ज्ञान, दर्शन) को आवृत करते हैं, आत्म-शक्ति के विकास में विघ्न डालते हैं, नष्ट करते हैं, आत्मा को विकृत करते हैं, प्रिय और अप्रिय में निमित्त बनते हैं वे 'कर्म' कहलाते हैं।

> जीवस्य परिणामेन, अशुभेन शुभेन च।
> संगृहीताः पुद्गला हि, कर्म रूपं भजन्त्यलम्॥

जीव के शुभ और अशुभ परिणाम से जो पुद्गल संगृहीत होते हैं वे पुद्गल "कर्म" रुप में परिणत हो जाते हैं।

> "आत्मनः सदसत्प्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्य पुद्गला कर्मः"

आत्मा की सत् एवं असत् प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म-रूप होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहते हैं।

कर्मों को आकर्षित करने के निमित्त कारण हैं भाव कर्म और

द्रव्य कर्म । दोनों का आपस में सम्बन्ध है । आत्मा कभी कर्म पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित नहीं करती क्योंकि उसमें ऐसा करने की कोई शक्ति निहित नहीं है । किन्तु उसके पास एक माध्यम अवश्य है । वह है भाव कर्म जिसके द्वारा यह कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करता है । भाव कर्मों के द्वारा ही आत्मा की ओर द्रव्य कर्मों का आकर्षण होता है । जैन दर्शन के अनुसार जीव की राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से कर्मों का बन्ध होता है । बन्ध के साथ ही उनकी प्रकृति व स्थिति बन जाती है । जब तक वे कर्म उदय में नहीं आते तब तक वे द्रव्य कर्म हैं और जब वे उदय में आकर फल देते हैं तो भाव कर्म बन जाते हैं । साधारणतया कार्मण जाति का पुद्गल जब आत्मा के साथ मिल कर्म-रूप में परिणत हो जाता है, द्रव्य कर्म कहलाता है और जब राग-द्वेषात्मक मनोवेगों के परिणाम को प्रकट करता है तब भाव कर्म कहलाता है । पुद्गल की पर्याय क्रिया प्रधान है और जीव की पर्याय है भाव प्रधान । इसलिए पुद्गल वर्गणाओं के पारस्परिक बन्ध से जो स्कन्ध बनते हैं वे द्रव्य कर्म हैं और जीव उपयोग में रागादि के कारण ज्ञेयों के साथ जो बन्धन होता है वह भाव कर्म है । भाव कर्म है जीव में होने वाली रासायनिक प्रक्रिया । पहली जैविक है और दूसरी पौद्गलिक । दोनों में आपसी संबंध होता है । दोनों प्रक्रियाएं समान रूप से प्रभावित होती हैं । द्रव्य कर्म आत्मा को प्रभावित करते हैं और आत्मा भी इन्हें प्रभावित करती है । इन दोनों के प्रभाव क्षेत्र में बन्ध प्रवेश करता है । इस प्रकार आत्मा और कर्म के बन्ध का तात्पर्य है एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में आना ।

एक वस्तु का प्रभाव दूसरी वस्तु पर पड़ता है—यह एक सामान्य बात है । ज्योतिषियों का यह मत है कि मनुष्य के मन का स्वामी चन्द्रमा है इसलिए चन्द्रमा मनुष्य के मन को प्रभावित

है । प्रो० ब्राउन का मत है कि पृथ्वी सौरमंडल का एक सदस्य है और चन्द्रमा पृथ्वी का ही एक उपग्रह । वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी और चन्द्रमा की उत्पत्ति सूर्य से हुई है । अतः पृथ्वी को सूर्य, चन्द्रमा तथा सौरमण्डल के अन्य सदस्य जैसे मंगल, वृहस्पति, शुक्र, शनि, बुध, राहु और केतु प्रभावित करते हैं । ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जन्म लेते ही ब्रह्माण्ड के (ग्रहों आदि) प्रभाव की छाप जातक पर पड़ जाती है । व्यक्ति में वही गुण-दोष होते हैं जो गुण-दोष उसके जन्म के समय प्रकृति (ग्रहों आदि) में पाए जाते हैं । जिस काल में कोई जन्म लेता है, वह काल उसके पूर्व-जन्म में किये कर्मों के अनुसार होता है । जन्म-पत्री प्राणी के पूर्व-जन्म और उसके सम्भावी भविष्य का चार्ट या चित्र है । सभी नौ ग्रह अपनी विशिष्ट प्रकाश किरणों द्वारा प्रतिकूल या अनुकूल प्रभाव डालते हैं । ग्रह पूर्व-जन्म के शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप परिणामों के सूचक है । ग्रहों की प्रकाश तरंगों में भिन्नता होने के कारण ही मानव के चरित्र तथा व्यक्तित्व में एकरूपता नहीं पाई जाती । आज विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ग्रहों की प्रकाश किरणें विकीरण द्वारा मानव के चरित्र, स्वभाव, स्वास्थ्य तथा आदतों को प्रभावित करती रहती हैं । ग्रहों में सर्वाधिक प्रभाव हमारी पृथ्वी पर सूर्य का पड़ता है, क्योंकि सौरमंडल के सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते रहते हैं । असंख्य कोशिकाओं से यह शरीर बना है । हर कोशिका के मध्य में नाभिक (nucleus) है । इस नाभिक में स्थित प्रोटॉन व न्यूट्रॉन हैं जिनके आसपास जीव रूपी इलेक्ट्रॉन चक्कर काटते रहते हैं और उसमें मिल जाने को व्याकुल रहते हैं । इस इलेक्ट्रॉन के तारों पर नौ ग्रहों का प्रभाव पड़ता है, जो पदार्थ की रचना के अनुसार मनुष्य को प्रभावित करता रहता है । सूर्य के भ्रमण पथ को १२ भागों में विभाजित किया गया है, जिन्हें राशि कहते हैं । राशियों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न ग्रहों के गुणों पर

आधारित है। ग्रह के स्वामित्व द्वारा सम्बन्धित राशि का प्रभाव प्रकट किया जाता है। जैसे मेष राशि अपने में अपने स्वामी मंगल का प्रभाव रखती हैं। १२ राशियों में जन्मे व्यक्तियों में ग्रहों के स्तर पर विभिन्नता होना स्वाभाविक है। व्यक्तियों की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं में इसीलिए अन्तर होता है। मानव की शक्ति व कमजोरियों को राशियाँ प्रकट करती हैं। परन्तु प्राणी स्वयं अपने विषय में अनभिज्ञ रहता है। उसकी जन्मकालीन सूर्य राशि उसके भावजगत तथा मनोजगत की कुंजी प्रदान कर सकती है।

१२ राशियों तथा उससे सम्बन्धित शरीर के अंग-प्रत्यंग निम्न प्रकार हैं:—

मेष राशि – सिर (चेहरा, नेत्र, दांत, कान आदि)।
वृष राशि – गला, कण्ठ, चेहरा।
मिथुन राशि – वक्ष-स्थल, बाहु, कंधा।
कर्क राशि – हृदय, सीना, फेंफडे, कोहनी।
सिंह राशि – उदर, पीठ, बाहु का नीचे का भाग।
कन्या राशि – कमर, हाथ, उदर का वह भाग जिसमें लीवर और आंतें स्थित हैं।
तुला राशि – किडनी, पेट के नीचे का भाग।
वृश्चिक राशि – मल व मूत्र द्वार।
धनु राशि – जांघ, नितम्ब।
मकर राशि – गेडुना।
कुम्भ राशि – नितम्ब, पैर।
मीन राशि – चरण, हड्डी।

जब हमारा संज्ञान (चेतना) आत्मा से सम्पर्क स्थापित कर

लेता है या यों कहा जाय कि इलेक्ट्रॉन नाभिक में विलीन हो जाता है तो स्थिति बदल जाती है। उस समय व्यक्ति की क्षमता सूर्य की तरह शरीर के अणु अणु में प्रखर हो उठती है। लौकिक दृष्टि से सूर्य के गुण-धर्म और शरीर में जो नाभिक (nucleus) है उसके गुण-धर्म समान हैं। हम उस दुनियां में जी रहे हैं जहां एक वस्तु का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। किसी व्यक्ति के जीवन में कोई भी घटना अच्छी या बुरी घटित होती है तो ऐसा कहा जाता है कि ऐसा होना आकाश में ग्रहों की स्थिति व स्वयं की दशा, जो जन्म के ग्रहों पर असर करती है, उस पर निर्भर करता है। सृष्टि में अदृश्य कण से लेकर विकसित जीवन सभी कुछ एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। चांद, सितारे, सूरज की स्थिति, आकाश गंगाएं, चन्द्र व सूर्य ग्रहण सभी जीवन पर बहुमुखी प्रभाव छोड़ते हैं।

ज्योतिष भाग्यवाद अर्थात् अवश्यं भावित्व का समर्थन नहीं करता। किसी विद्वान ने कहा भी है, "केवल मूर्ख ग्रहों का अनुगमन करते हैं, बुद्धिमान तो उन पर नियन्त्रण करते हैं"। ज्योतिष के द्वारा किसी ग्रह के सम्बन्ध में पूर्व जानकारी हासिल करके रक्षात्मक कार्यवाही करके हम सुरक्षित रह सकते हैं। अपने मनोबल तथा आध्यात्मिक शक्ति के आश्रय से मानव ग्रह-जनित सभी भावी समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। ऐसा कहा जाता है कि जो ज्योतिष को नहीं मानते, वे अपने को ज्योतिष के अनुदानों से वंचित रखते हैं।

ज्योतिषियों का यह स्पष्ट मत है कि भारतीय ज्योतिष शास्त्र मनुष्य के कर्मों तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर आधारित है। जन्म-कुण्डली में जन्म-जन्म से मनुष्य के भाग्य का निर्धारण होता

है और व्यक्ति के जन्म के काल में आकाशों में ग्रहों की जो स्थिति होती है उसका नक्शा है जन्म–कुण्डली। बारह राशियों में जो राशि व्यक्ति के जन्म के समय पूर्वी क्षितिज पर उदित रहती है, वही जन्म-लग्न होता है। लग्न का समय लगभग दो घंटे का होता है और वह व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक प्रकृति को प्रभावित करता है। ज्योतिष के अनुसार किसी नगीना (पन्ना आदि) में यंत्र या मंत्र में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह भाग्य विधाता के लिखे को मिटा सके परन्तु ग्रहों के असर में कमी अवश्य कर सकता है। सृष्टि चाहे जड़ हो या चेतन, इन द्वादश राशियों में सभी आ जाते हैं और द्वादश ही मास हैं। प्रत्येक मास में सूर्य का उदय क्रम से राशि में होता है। उदाहरण के रूप में वैसाख महीने में सूर्य का उदय मेष राशि में होगा। यह क्रम सब पर ही लागू होता है।

सौरमंडल और शरीर:—सौरमंडल से आनेवाले विकीरण हमारे प्रत्येक कार्य को प्रभावित करते हैं। जैसे ज्योतिष का सौरमंडल है, वैसे ही अध्यात्म का भी सौरमंडल है। जैसे ज्योतिष में नव ग्रह माने जाते हैं वैसे आध्यात्म में भी नव ग्रह सम्मत हैं:—

ज्ञान केन्द्र	—	शनि का क्षेत्र
शान्ति केन्द्र	—	केतु का क्षेत्र
ज्योति केन्द्र	—	गुरु का क्षेत्र
दर्शन केन्द्र चाक्षुस केन्द्र प्राण केन्द्र	—	बुद्ध का क्षेत्र

(ये सभी केन्द्र गले के ऊपर मस्तिष्क में हैं।)

विशुद्धि केन्द्र (गला)	—	चन्द्रमा का क्षेत्र

आनन्द केन्द्र (वक्ष स्थल) — मंगल का क्षेत्र
तेजस केन्द्र (पेट) — सूर्य का क्षेत्र
स्वास्थ्य केन्द्र } पेट के नीचे का हिस्सा } — शुक्र का क्षेत्र
शक्ति केन्द्र } — राहु का क्षेत्र
(अन्यत्र दिये चित्र से इनकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है।)

सारा सौरमंडल हमारे शरीर के भीतर है। यदि कुन्डली के आधार पर यह ज्ञात हो कि अमुक ग्रह अभी शुद्ध नहीं है, उसकी गति हितकर नहीं है, उसमें परिवर्तन लाने का उपाय हमारे पास है। ज्योतिष भाग्य भरोसे बैठने का सिद्धान्त नहीं है। ज्योतिष के द्वारा यह जाना जा सकता है कि अमुक ग्रह का प्रभाव कैसा है। अगर विपरीत है तो जप, तप, ध्यान आदि से उस ग्रह के परिणाम में परिवर्तन लाया जा सकता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त इसीलिए महत्वपूर्ण है, कि उसके द्वारा भाग्य की प्रत्येक रेखा में परिवर्तन लाया जा सकता है या उसको रूपान्तरित किया जा सकता है। ज्योतिष यह बतलाने वाला है कि अमुक घटना घटित होने वाली है। जान लेने पर; ज्ञात हो जाने पर उचित उपाय करना हमारे हाथ में है। इसीलिए ध्यान महत्वपूर्ण है। जैसे जैसे ध्यान का विकास होता है, वैसे वैसे हमारी प्रज्ञा निर्मल होती है, शक्ति जागती है और पुरुषार्थ प्रबल होता है। ध्यान की साधना से आदमी निठल्ला नहीं बनता किन्तु भाग्य को बदलने वाला भी बन सकता है और वह बदलने का दायित्व अपने पर ओढ़ लेता है और उस पुरुषार्थ में सर्वात्मना जुड़ जाता है। वह यह मानता है कि, "मैं भाग्य में परिवर्तन ला सकता हूं और परिवर्तन लाने की चाबी मुझे प्राप्त हो गयी है"।

प्रसिद्ध अभिनेता अशोक कुमार अपने अनुभव के अनुसार

लिखते हैं, "हां ग्रहों की स्थिति का असर आदमी पर पड़ता ही है। ये आदमी की प्रवृत्ति, प्रतिभा, सबको प्रभावित करते हैं, इतना ही नहीं, उसके कर्म के फल को भी प्रभावित करते हैं। मान-सम्मान, उन्नति-अवनति, सब कुछ ग्रहों की स्थिति पर निर्भर करता है। अशोक कुमार आगे लिखते हैं "ज्योतिष एक सम्पूर्ण विज्ञान (perfect science) है। मगर इसके लिए बहुत परिपूर्णता (accuracy) और अन्तर्ज्ञान (Intuition) की जरूरत होती है और सहज ज्ञान तभी सही होता है, जब आदमी सांसारिक इच्छाओं जैसे लोभ, मोह आदि से अनासक्त (detached) रहता है। इसलिए वृद्धावस्था में यह ज्यादा सही साबित होता है"।

संदर्भ :

१ पं. चन्द्रदत्त शुक्ल — "ज्योतिष का योगदान" — मनोरमा ८३

२ शारदा — हिन्दी एक्सप्रेस — ४-१-८१

3 अशोक कुमार — धर्मयुग — २६-१२-८१

४. ज्योतिषी रतनचन्द धीर — धर्मयुग — २१ से २७-3-८२

५. युवाचार्य महाप्रज्ञ — सम्बोधि श्लोक 3४ व 3५

६. युवाचार्य महाप्रज्ञ—ध्यान एक परम पुरुषार्थ-प्रेक्षा ध्यान-अप्रेल मई ८२

७. वी. एस. वेंकटरमन — धर्मयुग २१ से २७-3-८२

कर्म-पुद्गल आत्मा से कैसे आकर्षित होते हैं ?

जैन दर्शन के अनुसार यह समूचा लोकाकाश कर्म की सूक्ष्म वर्गणाओं से खचाखच भरा पड़ा है और यह कर्म-पुद्गल स्वतंत्र रूप से विचरण करते हैं। साथ ही विभिन्न प्रकार के भौतिक परमाणु भी इसी लोकाकाश में भरे पड़े हैं। हाइड्रोजन गैस के परमाणु, आक्सीजन गैस के परमाणु, नाइट्रोजन गैस के परमाणु और न जाने कौन कौन से परमाणु इस लोकाकाश में स्थित हैं। अन्य प्रकार की भौतिक गैसें भी इसी लोकाकाश में ही हैं। इन भौतिक परमाणुओं के कई वर्ग हैं। विश्व के प्रत्येक पदार्थ में परमाणु होते हैं। सभी तरह के परमाणुओं में अपने अपने प्रकार के अनुरूप एक विशेष सत्ता होती है। उनकी निजी अलग अलग विशेषताएं होती है, पृथक पृथक क्षमताएं होती हैं। इसी प्रकार जो कर्म-वर्गणाएं कहलाती है और कर्म के कई रूप में बदली जा सकती हैं उनकी भी अपनी विशिष्टता है। यह कर्म-पुद्गल ही हमारी आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। हम जहां कहीं भी हों, आसपास के आकाश मंडल से ये कर्म-पुद्गल हमारी आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे चिपक जाते हैं। कैसे? जैसे ही हममें राग-द्वेष की अनुभूति हुई, भाव चित्त बना, हमारी प्रवृत्ति के द्वारा, चंचलता के द्वारा, आश्रव के द्वारा, भाव कर्म के द्वारा ये कर्म-पुद्गल आकृष्ट होकर हमारी आत्मा के प्रभाव क्षेत्र में आकर आत्मा से सहबद्ध हो जाते हैं। कुछ देर पहले जो कर्म-पुद्गल अपने स्थान पर थे और उस समय हम अपने स्थान पर थे परन्तु जैसे ही हमारी रागात्मक व द्वेषात्मक प्रवृत्ति हुई वैसे ही वे कर्म-पुद्गल हमारी आत्मा से आकर्षित होकर आत्मा से बंध जाते हैं और एक दूसरे का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। हमारे भीतर जो राग-द्वेष की चिकनाहट है वही कर्म-पुद्गलों को पकड़ लेती है, बांध लेती है। दीवार पर हम

सूखी धूल फेंकते हैं और यदि दीवार पर चिकनाहट नहीं है तो धूल दीवार पर नहीं चिपकेगी। वह तुरन्त गिर जाएगी परन्तु यदि धूल गीली है तो दीवार पर कुछ देर चिपकेगी और सूखने पर गिर जाएगी। परन्तु दीवार स्वयं में वस्तु को चिपकाने की शक्ति है यानि स्वय चिकनी है तो वह धूल को अपनी चिकनाहट में पकड़ कर अपने से चिपका लेगी। इसी प्रकार राग-द्वेष में अपने में चिपकाने की शक्ति है और राग-द्वेष रूपी चिकनाहट के कारण कर्म-पुद्गल आत्मा से चिपक जाते हैं। व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे या तो राग की उत्तेजना होती है या द्वेष की जिसके कारण कर्म-पुद्गल आत्मा को स्वयं के साथ बांध लेते हैं। कर्म-पुद्गलों के सयोग से ही आत्मा की आंतरिक योग्यता आच्छादित होकर विकृत हो जाती है। इन कर्म-पुद्गलों से पूर्ण रूपेण अलगाव से ही आत्मा की प्रकृति का शुद्ध स्वरूप निखर उठता है।

भोजन, औषधि, विष, मदिरा आदि भी पौद्गलिक पदार्थ हैं और अपनी परिपाक दशा में प्राणियों पर प्रभाव डालते हैं। कर्म-पुद्गल भी अपनी परिपाक दशा में प्राणियों पर अपनी छाप विशेष अवश्य डाल देते हैं। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है इसलिए इस सम्बन्ध का ज्ञान स्पष्ट होता है। प्राणी द्वारा कर्म-पुद्गल के ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है इसलिए उसका ज्ञान पूर्ण रूप से हमें स्पष्ट नहीं हो पाता। हम जो भोजन करते हैं, औषधि सेवन करते हैं, उसके परिणामों के बारे में जानने के लिए जैसे शरीर विज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक है उसी तरह कर्म-पुद्गलों के परिणामों को समझने के लिए कर्म-सिद्धान्त का अध्ययन करना आवश्यक है। भोजन का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से शरीर पर होता है और परोक्ष रूप से आत्मा पर। कर्म-पुद्गलों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से आत्मा पर होता है और परोक्ष रूप से शरीर पर।

पौष्टिक भोजन करने से शरीर का पोषण होता है, अपौष्टिक भोजन करने से कुपोषण। यदि दोनों में से किसी भी प्रकार का भोजन न किया जाय तो प्राणी की मृत्यु का होना सम्भव है। कर्म पुद्गल के सम्बन्ध में भी यही विधि लागू होती है। पुण्य-कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से आत्मा को दुख का बोध होता है और दोनों के आंशिक विलय से आत्मा की आंशिक मुक्ति या आंशिक विकास होता है और पूर्ण विलय से आत्मा की कर्म-बन्धन से पूर्ण मुक्ति या पूर्ण विकास होता है। भोजन आदि के परिपक्व होने की अवस्था जैसे देश, काल सापेक्ष होती है वैसे ही कर्मों के विपाक में आने की अवस्था भी द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव और भव सापेक्ष होती है।

जैन दर्शन कर्म को एक स्वतन्त्र तत्व मानता है। कर्म-बन्धन और कुछ नहीं एक क्रिया की प्रतिक्रिया है। हर कार्य के पीछे कारण होता है। मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के विकास का तारतम्य स्पष्ट है किन्तु उसकी पृष्ठ भूमि में रहा हुआ कारण अदृश्य है। वही कर्म है। जो तारतम्यता है उसका कारण परिस्थिति जन्य माना जाता है। परिस्थिति निमित्त कारण हो सकती है पर वह मूल कारण नहीं है। जैसे अंकुर का मूल कारण बीज है और उसे जमीन व जल मिलने से उसमें अंकुर फूटता है उसी तरह विकास का तारतम्य परिस्थिति से अवश्य प्रभावित होता है परन्तु परिस्थिति उसका मूल कारण नहीं है, उसका मूल कारण तो कर्म है।

जैन दर्शन में साधक और साधना का महत्व

जैन दर्शन में साधक और साधना का क्या महत्व है इसे भी जानना आवश्यक है क्योंकि साधना की प्रक्रिया जिस पर जैन दर्शन में बल दिया गया है, का कर्म-सिद्धान्त से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है और साधना का प्रभाव व्यक्ति के कर्म के क्षेत्र में पड़े बिना नहीं रह सकता। साधना एक प्रकार की अध्यवसायी आत्मिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति का अध्यात्मिक विकास होता है। हमें यह देखना है कि साधना के क्षेत्र में कुशल साधक कौन है? संभवतया कुशल साधक वह व्यक्ति होता है जो कर्म, कर्म-बन्धन के बीज; कर्म-बन्धन और उसके हेतु; मुक्ति और मुक्ति के हेतु आदि तथ्यों को पूर्ण रूप से जानता है। जो इन सब बातों को भली भांति जानकर कर्मों के विपाक में आने के पूर्व स्वयं चिकित्सक बन जाता है वही कुशल साधक होता है। कर्म सम्बन्धी तथ्यों को जानने का दूसरा कारण यह है कि विना उन्हें जाने और विना उसके सिद्धान्त को प्रयोग में लाये व्यक्ति का अध्यात्मिक विकास साधारण रूप से भी सम्भव नहीं लगता। कर्म-बन्धन का रूप चाहे अच्छा हो या बुरा, अध्यात्मिक विकास में किसी भी स्तर पर बाधक हो सकता है। इसलिये कर्म-बन्धन और उसके हेतु के बारे में पूर्ण रूप से जानकारी होना जरुरी है।

कर्म-बन्धन का बीज है राग-द्वेष। जब तक राग-द्वेष रूपी विकार की उत्पत्ति के बारे में हमें ज्ञान नहीं होता तब तक राग-द्वेष से होने वाले परिणामों को नहीं जाना जा सकता। यदि हमने कर्म-सिद्धान्त को समझ लिया एवं कर्म-बन्धन के बीज को भी जान

५. अटल अवगाहन— आयुष्य कर्म । इस कर्म के समाप्त होने पर ही अटल अवगाहन का गुण आत्मा में आता है।

६. अमूर्तिकपन— नाम कर्म । नाम कर्म के उदय से ही शरीर मिलता है। शरीर समाविष्ट अमूर्त आत्मा भी मूर्त सी प्रतीत होने लगती है।

७. अगुरुलघुपन(न छोटापन, न बड़ापन)— गोत्र कर्म । गोत्र कर्म क्षीण होता है तो फिर छोटापन, बड़ापन का प्रश्न नहीं उठता।

८. लब्धि— अन्तराय कर्म । ज्यों ही अन्तराय कर्म क्षय होता है तो आत्मा में क्षायिक लब्धि प्राप्त होती है।

उपरोक्त आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों में मोहनीय कर्म की प्रकृति मोक्ष मार्ग में प्रधान रूप से बाधक है, क्योंकि संसार में भ्रमण का मूल कारण मोह ही है और उसके विच्छेद होने पर ही जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो सकता है। कर्म-बन्धन का मूल है मोह। मोह वह छलना है जो आत्मा को विमूढ बना देता है। तब उसमें योग्य अयोग्य बातों का विचार नहीं रहता। कामनाओं का उत्स है मोह। मोह की सघनता से कामनाएं बढती हैं। ज्यों-ज्यों मोह क्षीण होता है कामनाएं क्षीण होती जाती हैं। मोह कर्म का जब विपाक होता है, तब राग-द्वेष का चक्र चलने लगता है, विभिन्न प्रकार की वासनाएं उभरती हैं, भय जागता है तथा अन्य प्रकार के आवेग भी कार्यरत हो जाते हैं। मोहनीय कर्म ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का अस्तित्व बारहवें गुणस्थान तक रहता है। शेष चार भवोपग्राही कर्म चौदहवें स्थान के अन्तिम समय तक बने रहते हैं। चौदहवें गुणस्थान को पार करना, चार अघात्य कर्मों को क्षीण करना और मुक्त होना ये सब काम एक साथ एक समय में घटित

हो जाते हैं। वीतराग अवस्था में मोह का पूर्ण विलय हो जाता है। अत: वीतराग कामनाओं से मुक्त होते हैं। यह एक विचित्रता है कि जो मन मोह के चंगुल में आकर आत्मा को कर्म बंधन में डालता है वही मन विवेक द्वारा संचालित होने पर आत्मा को मोह के बन्धन से विमुक्त भी करता है। उत्तराध्ययन सूत्र २९/७१ में इस विषय से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर :—

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा, "भगवन्! कर्म कौन बांधता है? सयत, असंयत अथवा संयतासंयत।"

भगवान ने कहा, "गौतम! संयत्, असंयत और संयतासंयत ये सब कर्मों का बन्धन करते हैं। दसवें गुणस्थान तक के अधिकारी पुण्य और पाप दोनों का बन्ध करते हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गुण स्थान तक के अधिकारी केवल पुण्य का बन्धन करते हैं।"

* आगे और एक प्रश्नोत्तर है:– "भन्ते! राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन के ऊपर विजय पाने से जीव क्या प्राप्त करता है?"

उत्तर:– "राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन के ऊपर विजय पाने से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ कर्मों में जो कर्म ग्रन्थि (घात्म कर्म) है उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है। वह जिसे कभी भी पूर्णत: क्षीण नहीं कर पाया उस अट्ठाईस प्रकार की प्रकृति वाले मोहनीय कर्म को क्रमश: पूर्णरूप से क्षीण करता है, फिर वह पांच प्रकार की प्रकृति वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार की प्रकृति वाले दर्शनावरणीय और पांच प्रकार की प्रकृति वाले अन्तराय इन तीनों विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण,

---

* भागवत स्वर, प्रेक्षाध्यान, जुलाई १९८१।

निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन का उपार्जन करता है। जब तक वह संयोगी होता है तब तक उसके ईर्या-पथिक-कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध सुखस्पर्श (पुण्य मय) होता है। उसकी स्थिती दो समय की होती है और तीसरे समय में वह भी निर्जीर्ण हो जाती है। वह कर्म-बद्ध होता है, स्पष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है और अन्त में अकर्म भी हो जाता है।"

इस तरह कर्मों के विपाक में आने का यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है। प्रश्न होता है कि आत्मा से कर्मों का बन्धन क्यों होता है? बन्धन करने वाला कौन है? जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं कर्त्ता है। आत्मा स्वयं ही बंधती है और स्वयं के पुरुषार्थ से ही मुक्त होती है। उसे बांधने वाला और मुक्त करने वाला और कोई नहीं है। यहां प्रति-प्रश्न उत्पन्न होता है कि बंधने और मुक्त होने में आत्मा स्वतंत्र है तो वह बंधेगी क्यों? बंधने में उसका कोई लाभ तो है नही फिर इसका क्या औचित्य है? मगर प्रश्न औचित्य का नहीं, नियम का है। आत्मा पहले से ही कर्मों से आबद्ध है। पूर्व बन्धन की प्रेरणा से आत्मा में स्पन्दन होता है। स्पन्दन से सत्, असत् की प्रवृत्ति होती है और उससे नया बन्धन होता है। बन्धन की यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है और तब तक चलती रहेगी जब तक आत्मा विकास (गुणस्थान) की चौदहवीं अर्थात् अन्तिम भूमिका तक नहीं जाएगी।

कर्मों को हमने बांध लिया (कर्म बंध गये)। हमारे ही अज्ञानवश, प्रमादवश, हमारी ही भूलों के कारण कर्म आकर आत्मा से चिपक गये। वे परिणाम देने वाले हैं। उनका विपाक काल है। हम जागरूक हो जाएं। हमारी प्रमाद की नींद टूट जाए। हमारी

चेतना की कुछ रश्मियां आलोकित हो जायें। विपाक होता है कारणों से। निमित्तों के बिना विपाक नहीं हो सकता। कर्मों को विपाक में आने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव आदि की आवश्यकता होती है। इन सभी का जब योग मिलता है तब कर्मों का विपाक होता है। हम साधना के माध्यम से इन विपाकों में परिवर्तन ला सकते हैं। किन्तु यह तभी संभव है जब हम कर्मों की प्रकृतियों और स्वभावों को ठीक ठीक समझ लें। साथ साथ यह भी समझ लें कि कौनसा उपाय करने से कर्मों के विपाक से सम्बन्धित परिवर्तन लाया जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर वेदनीय कर्म को लें। इसकी दो प्रकृतियां हैं साता वेदनीय और असाता वेदनीय। सुख का वेदन भी होता है और दुख का भी। प्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है और अप्रीत्यात्मक अनुभूति भी। प्रश्न उठता है कि असाता वेदनीय कर्म का उदय होता क्यों है? उसके उदय के अनेक कारण हैं। पत्थर से ठोकर लगी कि पैर में दर्द हो गया। असाता वेदनीय कर्म का उदय हो गया। भूख से अधिक भोजन कर लिया अजीर्ण हो गया। मन विक्षुब्ध हो गया और साधना करने में नहीं लगता। यह भी हमारे कर्म-पुद्गल का प्रभाव है। इसलिए यह कहा जाता है कि भोजन की मात्रा में नियमन करना चाहिये। अगर तामसिक भोजन कर लिया और साधना में बैठ गये, सामायिक में बैठ गये तो ध्यान में मन नहीं लगेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि हम विपाकों के निमित्तों पर भी ध्यान दें। हम क्या खायें, कितना खायें, कैसे खायें, कैसे बैठें, किस वातावरण में रहें ताकि हमारी साधना में, सामायिक में बाधा उपस्थित न हो। ये बातें महत्वपूर्ण हैं और इनके प्रति हर समय हम जागरूक रहें।

कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन पर हमारा वश चल सकता है

अन्य कुछ ऐसी भी हैं जिन पर हमारा नियन्त्रण नहीं हो सकता। कभी कभी प्राकृतिक वातावरण ऐसा बन जाता है जैसे बहुत तेज गर्मी, बहुत ज्यादा सर्दी, आंधी और तूफान, अधिक वर्षा इत्यादि जिन पर हमारा वश नहीं चलता। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी साधक अपने मन को, चित्त को, ध्यान आदि से केन्द्रित कर कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास करे। इस तरह का अभ्यास करना साधक के लिए बहुत आवश्यक है। जो साधक कष्ट-सहिष्णु नहीं होता, कठिनाइयों को नहीं झेल सकता, वह न तो कुशल साधक बन सकता है और न वह कर्म रूपी शत्रु के अंतरंग चक्रव्यूह को तोड़ने में सफल हो सकता है। जीवन में द्वन्द आते हैं। कभी सुख का अनुभव होता है तो कभी दुख का। कभी अनुकूल परिस्थितियों की हवा बहती है तो कभी प्रतिकूल परिस्थितियां भी जीवन में आती हैं। कभी प्रशंसा होती है तो कभी निन्दा भी। कभी हमें कई प्रकार की उपलब्धियां भी होती हैं तो कभी बहुत बड़ी हानि भी उठानी पड़ती हैं। जब तक इनको सहन करने की क्षमता होती है तब तक साधना संभव है और कर्म रूपी शत्रु के व्यूह को तोड़ा जा सकता है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहना आवश्यक है ही परन्तु साधना करते समय बहुत हर्ष होना भी अवांछनीय है। यदि सारे संयोग अनुकूल है और वे एक दिन अकस्मात् साधक से छिन जाते हैं तो ऐसी कठिन परिस्थिति में भी समता रखने की चेतना साधक में जाग्रत होनी चाहिये। इस तरह यदि साधक जीवन की परिस्थितियों के प्रति हर समय जागरूक रहे तो कर्मों के विपाक में या कर्मों के उदय में अवश्य ही परिवर्तन लाया जा सकता है।

अनन्त भव भ्रमण के बाद व्यक्ति में निराशा होना स्वाभाविक है। वह सोचता है कि कब ये अनन्त अनन्त कर्म-वर्गणाएं

नष्ट होंगी और वह शुद्ध बुद्ध बनेगा। उन निराश व्यक्तियों के लिए जयाचार्य (तेरापथ संप्रदाय के चतुर्थ आचार्य) कहते हैं कि सूखे तृण के ढ़ेर को जलाने के लिए दावानल की जरूरत नही होती केवल चिनगारी ही काफी हैं। कर्म-ईंधन के उस पर्वत तुल्य ढ़ेर को खत्म करने के लिए भावना रूपी चिनगारी ही पर्याप्त है। इस तथ्य को प्रकट कर रही है उनकी ये पक्तियाँ:—

> सूखो तृण पूलो, जिम अग्नि विखेहो रे।
> शीघ्र भस्म हुवें, तिम कर्म दहेहो रे॥ भावे भावना
> जिम तप्त तवे, जल-विन्दू विललावे रे।
> तिम दुख समवित सहृवा अघ क्षय थावे रे॥ भावे भावना

जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ शुष्क तृणों का समूह शीघ्र भस्म हो जाता हैं, वैसे ही कर्मों का दहन हो जाता है। जैसे गर्म तवे पर जल-विन्दु शीघ्र लुप्त हो जाता है, वैसे ही कर्म क्षय हो जाते हैं।

यदि हमारे सवेदन केन्द्र को हम अपनी समता की भावना से प्रभावित करते हैं तो वेदना-जनक स्थिति में भी कष्टानुभूति नही होती।

सदर्भ :- जयाचार्य "आराधना की आठवी ढ़ाल" प्रेक्षाध्यान जून ८१.

कार्मण शरीर

कर्म जगत का सम्बन्ध भौतिक स्थूल शरीर से नहीं होकर उस सूक्ष्म शरीर से है जो इस दृश्य शरीर के भीतर है। शरीर पांच प्रकार के हैं:—

औदारिक शरीर:—अस्थिमय या दृश्य शरीर। यह आहार के परमाणुओं से निर्मित होता है। औदारिक शरीर में हाड़, मांस, रक्त आदि होते हैं और इसका स्वभाव है गलना, सड़ना एवं विनाश होना। मोक्ष की प्राप्ति औदारिक शरीर से ही हो सकती है। औदारिक शरीर आत्मा से अलग हो जाने के बाद भी टिक सकता है परन्तु अन्य शरीर आत्मा से अलग होते ही बिखर जाते हैं।

वैक्रिय शरीर:—विविध रूप निर्माण में समर्थ शरीर। इस शरीर में हाड़, मांस, रक्त नहीं होता है और मरने के बाद कपूर की तरह उड़ जाता है। इस शरीर में छोटापन, बड़ापन, सूक्ष्मता स्थूलता, एक रूप, अनेक रूप आदि विविध क्रियाएँ की जा सकती हैं।

आहारक शरीर:—यौगिक लब्धि से प्राप्त शरीर। चतुर्दश पूर्व-धर मुनि आवश्यक कार्य उत्पन्न होने पर जो विशिष्ट पुद्गलों का शरीर बनाते हैं, वह आहारक शरीर है।

तैजस शरीर:—तेजोमय या विद्युत शरीर। जो शरीर आहार आदि को पचाने में समर्थ है और जो तेजोदय है वह तैजस शरीर है। यह शरीर विद्युत परमाणुओं से व कर्म शरीर, वासना,

संस्कार और सवेदन के सूक्ष्मतम परमाणुओं से निर्मित होता है। तैजस शरीर, कर्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सेतु का काम करता है।

कार्मण शरीरः—कर्ममय शरीर जो अतीव सूक्ष्म है। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल समूह से जो शरीर बनता है, वह कार्मण शरीर है।

तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म शरीर हैं। अतः सारे लोक की कोई भी वस्तु उनके प्रवेश को रोक नहीं सकती। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर सकती है जैसे अति कठोर लौह पिण्ड में अग्नि।

कर्म शरीर के अतीव सूक्ष्म पुदगल यानि अनन्त प्रदेशी स्कन्ध जो सिद्धों से अनन्त गुणा ज्यादा और अभवी से अनन्त भाग कम हैं, हमारी आत्मा से चिपके हुए हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार हमारे भौतिक शरीर में एक वर्ग इंच स्थान में ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाएं होती हैं किन्तु यदि सूक्ष्म कर्म-शरीर में स्थित कर्म जगत की कोशिकाओं का लेखा जोखा किया जाय तो मालूम होगा कि एक वर्ग इंच जगह में अरबों खरबों कोशिकाओं का अस्तित्व है। ये कर्म-पुदगल चार स्पर्श वाले एवं अनन्त प्रदेशी होते हैं। इन सूक्ष्म पुद्गलों का स्वरूप इतना सूक्ष्म होता है कि वे केवल अतींद्रिय शक्तियों के द्वारा ही देखे जा सकते हैं, एवं मात्र बाह्य उपकरणों से नहीं देखे जा सकते।

शीत-उष्ण और स्निग्ध-रुक्ष ये चार मूल स्पर्श हैं और प्रत्येक पुद्गल में प्राप्त हैं। ये विरोधी हैं पर उनका सह-अवस्थान है। ये चारों हैं तभी पुद्गल स्कन्ध हमारे उपयोगी होता है। दुनिया में सब कुछ युगल है, जिसके बिना सृष्टि हो नहीं हो सकती।

प्रत्येक परमाणु "कर्म" नहीं वन सकते। सूक्ष्म एवं चतु:स्पर्शी परमाणु ही "कर्म" बन सकते हैं। इन चतु:स्पर्शी परमाणु-स्कन्धों में भार नहीं होना, वे लघु व गुरु नहीं होते। उनमें विद्युत आवेग नहीं होता। वे बाहर जा सकते हैं यानि दीवार के बीच से भी निकल सकते है। उनकी गति अप्रत्याहत और अस्खलित होती है। अन्य चार स्पर्श लघु-गुरु (हल्का-भारी) और कर्कश-मृदु (कठोर-मीठा) ये वस्तु के मूलभूत धर्म नहीं है परन्तु वे संयोग शक्ति के द्वारा बनते हैं। इन अष्ट स्पर्शी परमाणु स्कन्धों में भार होता है, विद्युत आवेग व प्रस्फुटन होता है और उनका स्थूल अवगाहन भी होता है। इन स्थूल परमाणु स्कन्धों में बाहर जाने की न तो शक्ति होती है और न क्षमता। इसलिए वे दीवार को लाघ कर नही जा सकते। इसी तरह अष्ट-स्पर्शी पुद्गलों में कर्म बनने की और अमूर्त आत्मा की शक्तियों को आवृत करने की क्षमता नहीं होती।

व्यक्ति के शरीरों के प्रति जैनेत्तर दर्शनों में जो उल्लेख है वह इस प्रकार है:—

थियोसोफिस्ट्स (Theosophists) ने इन शरीरों को भिन्न संज्ञाएं दी है। उन्होंने स्थूल शरीर को Physical body, सूक्ष्म शरीर को Etheric body और अति सूक्ष्म शरीर को Astral body कहा है। वेदान्त के महर्षि अरविंद ने बताया है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त हमारे अनेक सूक्ष्म शरीर भी हैं और हम निरे स्थूल शरीर ही नहीं, अपितु अनेक शरीरों के निर्माता भी हैं तथा उन्हें इच्छानुसार प्रभावित करने की शक्ति रखने वाले समर्थ आत्म-पुरुष भी हैं। उन्होंने आगे बताया कि इस शरीर के अतिरिक्त हमारे चार अदृश्य शरीर उन चार लोकों जो वायव्य लोक, दिव्य लोक, मानसिक लोक तथा अध्यात्मिक लोक के नाम से जाने जाते हैं, से सान्निध्य प्राप्त करते हैं। हमारा प्राणमय शरीर आकाश

शरीर तथा स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। मनुष्य का प्राणमय शरीर आकार-प्रकार में स्थूल शरीर जैसा ही होता है पर स्थूल शरीर के रहते यह जितना प्रभावशाली था, इससे अलग होने पर उससे हजार गुना अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली हो जाता है।

परमहंस स्वामी योगानन्द लिखते हैं कि भगवान ने मानव आत्मा को क्रमशः तीन देहों में अवेष्टित किया है। पहला है मनोमय कोष या कारण शरीर; दूसरा है सूक्ष्म प्राणमय कोष, जो मनुष्य की मानसिक और भावात्मक प्रवृत्ति की लीलाभूमि है और तीसरा है स्थूल अन्नमय कोष या भौतिक शरीर। प्राणमय पुरुष अनुभूति चेतना द्वारा काम करता है और उसका शरीर प्राण-तत्वों से निर्मित होता है। कारण शरीर पुरुष विचारों के आनन्दमय प्रदेश में रहता है।

कर्म-शरीर सर्वाधिक शक्तिशाली शरीर है। यह अन्य सभी शरीरों का मूलभूत हेतु है। इसके होने पर अन्य शरीर होते हैं और न होने पर कोई शरीर नही होता। स्थूल शरीर का सीधा सम्पर्क तैजस शरीर से है और तैजस शरीर का सीधा सम्पर्क कर्म-शरीर से है। कर्म-शरीर से सीधा सम्पर्क चेतना का है और यह कर्म-शरीर ही चैतन्य पर आवरण डालता है। कर्म-शरीर स्थूल शरीर के द्वारा आकर्षित बाह्य जगत के प्रभावों को ग्रहण करता है और चैतन्य के प्रभावों को बाह्य जगत तक पहुँचाता है। सुख-दुख का अनुभव कर्मयुक्त शरीर से होता है। घटना स्थूल शरीर में घटित होती है और उसका संवेदन कर्म-शरीर में होता है। मादक वस्तुओं का प्रयोग करने पर स्थूल शरीर और कर्म-शरीर का सम्बन्ध ऊपरी स्तर पर विछिन्न हो जाता है। इससे उस दशा में स्थूल शरीर का सर्दी, गर्मी या पीड़ा का कोई संवेदन नहीं होता। रोग

भी कर्म-शरीर से उत्पन्न होता है और स्थूल शरीर में व्यक्त होता है। वासना कर्म-शरीर में उत्पन्न होती है और व्यक्त होती है स्थूल शरीर द्वारा। कर्म-शरीर और स्थूल शरीर दोनों का संबंध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओं का निर्माण करते हैं। हम समस्या और उसके समाधान को स्थूल शरीर में खोजते हैं जब कि दोनों का मूल कर्म-शरीर में होता है। कर्म-शरीर हमारे चिंतन, भावना, संकल्प और प्रवृत्ति से प्रकम्पित होता है। प्रकम्पनकाल में वह नये परमाणुओं को ग्रहण (बन्ध) करता है और पूर्व ग्रहित परमाणुओं का परित्याग (निर्जरण) करता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास की गति का, हमारी प्रभा, हमारी इन्द्रियों की शक्ति का तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श आदि अनुभवों के नियंत्रण का हेतु सूक्ष्म शरीर है। दूसरों को चोट पहुँचाने की हमारी क्षमता या दूसरों से चोट न खाने की हममें जो क्षमता है उसका नियंत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरार।

प्राणी के मरने पर जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल में उसके साथ दो शरीर अवश्य ही होते हैं एक तैजस और दूसरा कार्मण शरीर। उन दोनों शरीरों के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँच जाती है। नये जन्म के प्रारम्भ से ही कर्म-शरीर आहार ग्रहण करता है चाहे वह ओज आहार हो या ऊर्जा आहार हो। जीव संसार में होगा तब ही कर्म-शरीर होगा। इस तरह जीव आहार का उपभोग कर शीघ्र ही उसका उपयोग भी कर लेता है। यानि स्थूल शरीर का निर्माण शुरु हो जाता है। हमारे स्थूल शरीर का ज्यों ज्यों विकास होता है त्यों त्यों नाड़ियां बनती हैं, हड्डियें बनती हैं, चक्र बनते हैं, और भी

अनेक प्रकार के संघटन (अवयव) बनते रहते हैं व इन्द्रियों का विकास होता रहता है। सभी जीवों के शरीरों का विकास एकसा न होकर भिन्न भिन्न होता है। किसी जीव में एकेन्द्रिय का, किसी में द्वीन्द्रिय का, किसी में त्रीन्द्रिय का, किसी में चौइन्द्रिय का और किसी में पांच इन्द्रियों का विकास होता है। इस सभी तरह के विकास का मूल स्रोत है कर्म-शरीर। कर्म-शरीर में जितने स्रोत हैं, जितने शक्ति विकास के केन्द्र हैं, उन सब का संवेद्य है स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म-शरीर में एक इन्द्रिय का विकास होता है तो स्थूल शरीर की संरचना में केवल एक इन्द्रिय का ही विकास होगा यानि केवल स्पर्श इन्द्रिय का ही विकास होगा। शेप इन्द्रियों का विकास नहीं होगा, न तो उनके लिये केन्द्र बनेगा और न आवश्यक गोलक ही निर्मित होंगे। आंख, कान, नाक, जीभ इनमें से कुछ भी नहीं बनेगा। यदि कर्म-शरीर में एक से अधिक इन्द्रियों का विकास होता है तो स्थूल शरीर में उतनी ही इन्द्रियों के संघटन विकसित होंगे। यदि कर्म-शरीर में मन का विकास होता है तो स्थूल शरीर में भी मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवों के कर्म-शरीर में मन का विकास नहीं है उनके न तो मेरु रज्जु होती है और न ही मस्तिष्क क्योंकि मन के विकास के साथ ही मेरु रज्जु और मस्तिष्क बनते हैं। इस प्रकार स्थूल शरीर की रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म-शरीर के विकास पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि सूक्ष्म शरीर बिम्ब है तो स्थूल शरीर उसका प्रतिबिम्ब। और यदि सूक्ष्म शरीर प्रमाण है तो स्थूल शरीर उसका संवेदी प्रमाण है।

इस शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मों से बन्धी है। कर्म बद्ध आत्मा से ही कर्म-पुद्गल सम्बन्ध जोड़ते हैं और कर्म-शरीर से चिपके हुए कर्म-पुद्गल, अच्छे या बुरे,

चाहे इस जन्म के हों या पिछले जन्मों के हों जीव के साथ चलते हैं और परिपक्व होने पर उदय में आते हैं। जब आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है तो फिर कोई भी पुद्गल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और न ही आवरण डाल सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रस-स्राव शरीर की ग्रन्थियों के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियों को संचालित करता है और प्रभावित भी करता है। यदि हम इस तथ्य को उचित रूप में जान लेते हैं तो हम स्थूल शरीर तक ही नहीं रुकेंगे, और आगे बढ़ेंगे। साधना का यही प्रयोजन है कि हम आगे से आगे बढते जाएं। स्थूल शरीर पर ही न रुकें, उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुंच जाएं। हमें उन रसायनों तक पहुँचना है, जो कर्मों के द्वारा निर्मित हो रहे हैं। वहां भी हम न रुकें, आगे बढ़ें और आत्मा के उन परिणामों तक पहुंचें, जो उन स्रावों को निर्मित कर रहे हैं। स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल हैं आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ़कर आत्म-परिणाम तक पहुँचें। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा और परिणामों को भी। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरंतर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम विशुद्ध होंगे और वे ही आत्म-परिणाम वासना की वृत्तियों को उत्तेजना देने वाले चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम कलुषित होंगे। जो चैतन्य-केन्द्र क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, जो चैतन्य केन्द्र आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा को उत्तेजना देते हैं, यदि उन चैतन्य केन्द्रों की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी, तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे।

आज इस बात की आवश्यकता है कि हम निरन्तर अभ्यास द्वारा यह जानने की कोशिश करें कि शरीर के किस भाग में मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और किस भाग में मन को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम उभरते है। यदि यह अनुभूति हो जाय तो हम हमारी सारी वृत्तियों पर नियन्त्रण पा सकते हैं और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओं मे प्रवेश कर सकते है और अशुभ लेश्याओं से छुटकारा पा सकते है।

इस विषय में गुजराती–मिश्रित राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य लिखे है जो पता नहीं लेखक के निजी अनुभवों पर आधारित हैं अथवा दूसरे ग्रन्थों के आधार पर लेकिन बहुत ही आश्चर्यकारी और महत्वपूर्ण हैं। उसमें लिखा है:– "नाभि कमल की अनेक पंखुड़ियां है। जब आत्म-परिणाम अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पखुड़ी पर जाता है तब लोभ की वृत्ति उभरती है। जब आत्म–परिणाम नाभि–कमल से ऊपर उठकर हृदय कमल की पंखुड़ियों पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तियां उभरती है। जब आत्म–परिणाम दर्शन केन्द्र पर पहुँचता है तब चौदह पूर्वों के ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता जागृत होती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता किन्तु इस प्रतिपादन में एक बहुत बड़ी सच्चाई का उद्घाटन होता है कि मानव शरीर में अनेक संवादी केन्द्र है। इन केन्द्रों पर मन को एकाग्र कर, मन से उसकी

चाहे इस जन्म के हों या पिछले जन्मों के हों जीव के साथ चलते हैं और परिपक्व होने पर उदय में आते हैं। जब आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है तो फिर कोई भी पुद्गल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और न ही आवरण डाल सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रस-स्राव शरीर की ग्रन्थियों के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियों को संचालित करता है और प्रभावित भी करता है। यदि हम इस तथ्य को उचित रूप में जान लेते हैं तो, हम स्थूल शरीर तक ही नहीं रुकेंगे, और आगे बढ़ेंगे। साधना का यही प्रयोजन है कि हम आगे से आगे बढते जाएं। स्थूल शरीर पर ही न रुकें, उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुंच जाएं। हमें उन रसायनों तक पहुँचना है, जो कर्मों के द्वारा निर्मित हो रहे हैं। वहां भी हम न रुकें, आगे बढ़ें और आत्मा के उन परिणामों तक पहुंचें, जो उन स्रावों को निर्मित कर रहे हैं। स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल है आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ़कर आत्म-परिणाम तक पहुँचें। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा और परिणामों को भी। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरंतर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम विशुद्ध होंगे और वे ही आत्म-परिणाम वासना की वृत्तियों को उत्तेजना देने वाले चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम कलुषित होंगे। जो चैतन्य-केन्द्र क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, जो चैतन्य केन्द्र आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा को उत्तेजना देते हैं, यदि उन चैतन्य केन्द्रों की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी, तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे।

आज इस बात की आवश्यकता है कि हम निरन्तर अभ्यास द्वारा यह जानने की कोशिश करें कि शरीर के किस भाग में मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और किस भाग में मन को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम उभरते हैं। यदि यह अनुभूति हो जाय तो हम हमारी सारी वृत्तियों पर नियन्त्रण पा सकते हैं और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओं में प्रवेश कर सकते हैं और अशुभ लेश्याओं से छुटकारा पा सकते है।

इस विषय में गुजराती–मिश्रित राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य लिखे है जो पता नहीं लेखक के निजी अनुभवों पर आधारित हैं अथवा दूसरे ग्रन्थों के आधार पर लेकिन बहुत ही आश्चर्यकारी और महत्वपूर्ण हैं। उसमें लिखा है:– "नाभि कमल की अनेक पंखुड़ियां है। जब आत्म-परिणाम अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुक पंखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पंखुड़ी पर जाता है तब लोभ की वृत्ति उभरती है। जब आत्म–परिणाम नाभि–कमल से ऊपर उठकर हृदय कमल की पंखुड़ियों पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तियां उभरती हैं। जब आत्म–परिणाम दर्शन केन्द्र पर पहुँचता है तब चौदह पूर्वों के ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता जागृत होती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता किन्तु इस प्रतिपादन में एक बहुत बड़ी सच्चाई का उद्घाटन होता है कि मानव शरीर में अनेक संवादी केन्द्र हैं। इन केन्द्रों पर मन को एकाग्र कर, मन से उसको

प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारों का उद्घाटन कर सकते है, ऐसी खिड़कियाँ खोल सकते है, जिनके द्वारा चेतना की रश्मियाँ बाहर निकल सके और अघटित घटित कर सकें।

यह बहुत ही कठिन साधना है और निरन्तर लम्बे समय तक इसका अभ्यास करने पर ही व्यक्ति को कुछ उपलब्धि हो सकती है या अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। अभ्यास किये बिना पुस्तकीय अध्ययन से कोरा ज्ञान होगा। आगम वाणी के अनुसारः-

"आहिंसु विज्जा चरणं पमोक्ख"

दुख मुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करें। पहले जानो फिर अभ्यास करो।

संदर्भ :

१. हरिमोहन गुप्ता—"अरविंद का सूक्ष्म शरीर", धर्मयुग २० से २८-२-८०
२. युवाचार्य महाप्रज्ञ—"शक्ति के जागरण सूत्र", प्रेक्षाध्यान मार्च ८०
३. परमहंस स्वामी योगानन्द— नवनीत' दिसम्बर १९८०

आस्रव (Influx of Karma)

कर्मों को आकर्षित करने के निमित्त कारण

"कर्मांकर्षक आत्म परिणाम आस्रवः" कर्मों को आकर्षित करने वाले आत्म-परिणाम को आस्रव कहते हैं। शुभाशुभ चिंतन के द्वारा आत्मा और कर्म-पुद्गलों का जो सयोग होता है वह आस्रव की प्रक्रिया है। जीव का जो राग-द्वेषात्मक परिणमन होता है वह आस्रव बन जाता है। आस्रव के प्रभाव के कारण ही हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति से दूर रहते हैं। आत्म-विमुखता का ही दूसरा नाम आस्रव है। जैसे पानी आने के नाले खुले रहने पर तालाब में पानी आता रहता है, उसी तरह आस्रव द्वार के खुले रहने पर कर्म-पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होते रहते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग ये पाँच आस्रव हैं और ये ही पाँच राग-द्वेषात्मक शक्तियाँ कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करने वाली हैं।

मिथ्यात्व (Ignorance) आस्रव:—"विपरीततत्त्वश्रद्धा मिथ्यात्वम्" विपरीत तत्त्व श्रद्धा या प्रतिकूल श्रद्धा को मिथ्यात्व आस्रव कहते हैं। जैसे धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु, असाधु को साधु आदि समझना। इस अवस्था में इन्द्रिय विषयों के प्रति व्यक्ति की तीव्रतम आसक्ति रहती है। क्रोध, मान, माया, लोभ प्रबलतम हो जाते हैं। मानसिक ग्रंथियां बनती रहती हैं। व्यवहार में क्रूरता अधिक होती है मिथ्यात्वी व्यक्ति दुखद विषयों को सुखद और अशाश्वत विषयों को शाश्वत मानता है। वह सांसारिक पदार्थों को ही सर्वस्व मानता है। धन के प्रति उसमें तीव्रतम मूर्छा होती है। नैतिकता या प्रामाणिकता में उसे कोई

विश्वास नहीं होता। उसे असत्य के प्रति आग्रह होता है। उसकी दृष्टि मूढ़ होने के कारण व अन्य व्यर्थ की बातें जानता हुआ भी सम्यक्त्व किसे कहते हैं नहीं समझता। केवल विपरीत जानता है। यह मिथ्यात्व है।

अव्रत (Want of self-restraint) आस्रवः— "अपत्याख्यानमविरति" आत्मा के अत्यागभाव को अव्रत या अविरति आस्रव कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुछ पाने की एक छिपी हुई अमिट चाह है, दुख मिटाने की भी चाह है, प्रिय वस्तु को पाने की, अप्रिय वस्तु को मिटाने की भी चाह है। इसी प्रकार अनुकूल को पाने की, प्रतिकूल को मिटाने की भी चाह है। यह जो आंतरिक चाह है, आकांक्षा है उसका स्रोत ही अविरत आस्रव है। इसकी जितनी अधिक मात्रा होगी उतनी अधिक चंचलता होगी। यदि चंचलता स्वाभाविक होती तो सब प्राणियों में समान होती। उदाहरण दिया जा सकता है:— कुछ लोग मकान के बरामदे में बैठे हैं, उस समय सड़क पर बाजे बजते हुए सुनाई देते हैं। कुछ लोग खड़े होकर सड़क पर उन्हें देखने लग जाते हैं व अन्य बरामदे में शांत बैठे रहते हैं, उन्हें नहीं देखते। दोनों क्रियाओं में यह अन्तर क्यों? उत्तर है कि जिनमें अविरत आस्रव प्रबल होने के कारण चाह प्रबल है, उत्सुकता प्रबल है, वे बाजे देखने दौड़ेंगे, भागेंगे प्रयत्न कर बाजों का बजना सुनना चाहेंगे। जिनमें अविरत आस्रव कम है, उनमें चाह कम है व उत्सुकता कम है वे शांत बैठे रहेंगे। अन्तर्मुखी होकर बैठे रहेंगे। वे बाहर बाजे देखने नहीं जायेंगे। किसी भी क्षेत्र में आकर्षण का कम होना, उनमें बाहिर-वृत्ति का न होकर सहज भाव से अन्तर्वृत्ति का होना है।

प्रमाद (inadvertance) आस्रवः— "अनुत्साहः प्रमादः" धर्म के

प्रति किसी व्यक्ति में जो अनुत्साह भाव है वही उसके लिए प्रमाद आस्रव कहलाता है। जब प्रमाद आस्रव की प्रबलता होती है तब मनुष्य का मन इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षित होता है। व्यक्ति में शांत बने हुए क्रोध, मान, माया, लोभ सम्बन्धी मत्सरता फिर उभर आती है। मन की जागरूकता समाप्त हो जाती है। प्रमाद का दूसरा अर्थ है अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था में संयम और क्षमा आदि धर्मों के प्रति मन में अनुत्साह आ जाता है। सत्य के आचरण में शिथिलता आ जाती है। इससे अध्यात्मिक अकर्मण्यता और आलस्य की स्थिति बन जाती है। वासना, भोजन आदि की चर्चा में व्यक्ति का जैसा आकर्षण होता है वैसा आकर्षण अध्यात्मिक विकास की चर्चा में नहीं होता।

कषाय (Passions) **आस्रव :—** "रागद्वेषात्मकोत्तापः कषायः" रागद्वेषात्मक उत्ताप को कषाय आस्रव कहते हैं। राग और द्वेष है इसीलिए क्रोध (anger), मान (vanity), माया (deceitfulness) और लोभ (avarice) ये चार मूल आवेग उत्पन्न होते हैं और इसी कारण से हास्य, रति, अरति, भय, शोक, घृणा, काम वासना आदि उप-आवेग उत्पन्न होते हैं। इन आवेगों की पृष्ठभूमि में राग और द्वेष ये दो अनुभूतियां या संवेदन काम करते हैं। जब तक राग द्वेष रहेंगे तब तक इन आवेगों की उत्पत्ति होती रहेगी। राग है प्रीत्यात्मक संवेदना और द्वेष है अप्रीत्यात्मक। इन चारों आवेगों में इस दृष्टि से जो भेद है वे इस प्रकार हैं :—

प्रीत्यात्मक	अप्रीत्यात्मक
क्रोधः- यह प्रीत्यात्मक नहीं होता।	क्रोध ही ऐसा है जो कोरा अप्रीत्यात्मक ही होता है। उसका सम्बन्ध है द्वेष से

अप्रीति से। प्रीति मे व राग से उसका सम्बन्ध नहीं जुड़ता।

मानः- अपने उत्कर्ष की अनुभूति में प्रीत्यात्मक होता है।

दूसरे की हीनता के प्रदर्शन में अप्रीत्यात्मक होता है।

मायाः- मायाकाल में चेतना की जो अनुभूति होती है वह प्रिय लगती है कि मैंने बहुत समझदारी से काम किया कि वह परास्त हो गया, प्रताड़ित हो गया। उस समय सुखद अनुभव होता है।

माया वंचनात्मक चेतना है। यह दूसरे को ठगने का काम करती है। यह परोपघात है। जो परोपघात होगा वह निश्चित ही अप्रीत्यात्मक होगा।

लोभः-यह एक आसक्ति है, कुछ लेने की भावना है, अपने लिये अर्जित करने की भावना है। यह प्रियता है इसलिये प्रीत्यात्मक है।

दूसरे के स्व को हड़पने के लिये चेतना काम करती है, दूसरे के अधिकारों को छीनने की भावना होती है, दूसरे के अधिकारों में आये हुए पदार्थ को छीनने की इच्छा होती है, वह लोभ अप्रीत्यात्मक बन जाता है।

इन चारों कषायों में मान और लोभ मुख्य है। मान यानि अहं—जो है उससे अतिरिक्त समझना। लोभ यानि जरूरत से ज्यादा की इच्छा करना। जब अहं पर चोट पहुंचती है तब क्रोध भी आता है और माया भी करनी पड़ती है। रागात्मक और द्वेषात्मक चेतना के अतिरिक्त कोई भी ऐसी शक्ति नहीं जो कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। राग-द्वेष में कर्म का और कर्म से

राग-द्वेष का यह एक वलय (चक्र) का क्रम चलता ही रहता है। ये ही विषमता के बीज हैं।

राग से रक्त और द्वेष से द्विष्ट मनुष्य न अपने भावों को देखता है और न किसी भी प्राणी की आंतरिक समता को और जब वह समता को नहीं देखता है तो वह पाप से भारी होता है और कर्म-बन्धन भी करता है। समत्वदर्शी न तो किसी के प्रति रक्त होता है और न द्विष्ट इसलिए उसके कर्मों का बन्धन नहीं होता। राग दो प्रकार का होता है :-प्रशस्त (धर्म के प्रति राग) और अप्रशस्त (ससार के प्रति राग)। प्रशस्त राग से शुभ कर्मो का बन्धन होता है और अप्रशस्त राग से अशुभ कर्मों का। सिद्धात्मा अर्थात कर्मो से मुक्त आत्मा के पुन: कर्म-बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता।

राग :- इन्द्रिय विषय में अनुकूलता का भाव होने पर प्राणी का उस विषय में "राग" हो जाता है और प्रतिकूलता का भाव होने पर उस विषय में "द्वेष" हो जाता है। व्यक्ति में जितना राग होता है उतना ही उसका चित्त उछलता रहता है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो राग-द्वेष इन्द्रियों के विषयों में नहीं रहते। यदि विषयों में राग-द्वेष स्थित होते तो एक ही विषय सभी को समान रूप से प्रिय अथवा अप्रिय लगता, जबकि ऐसा होता नहीं। जैसे वर्षा किसान को तो प्रिय लगती है पर कुम्हार को अप्रिय। इसी तरह किसी भी मनुष्य को कोई विषय सदा प्रिय या अप्रिय नहीं लगता। जैसे ठंडी हवा गर्मी में अच्छी लगती है परन्तु सर्दी में अच्छी नहीं लगती। इन्द्रियों के सभी विषय अपनी अनुकूलता या प्रतिकूलता के भाव से ही प्रिय या अप्रिय लगते हैं अर्थात् मनुष्य इन्द्रिय विषयों में अपना अनुकूल या प्रतिकूल भाव करके उन्हें अच्छा या बुरा मान कर राग-द्वेष कर लेता है। वास्तव में राग-

द्वेष माने हुए 'अहं' में रहते हैं। प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन) दोनों भिन्न भिन्न हैं। इन दोनों का विवेक स्वतः सिद्ध है। पुरुष इस विवेक को महत्त्व न देकर प्रकृति-जन्य शरीर से एकता कर लेता है और अपने को एकदेशीय मान लेता है। यह जड़ चेतन का तादात्म्य ही "मैं" कहलाता है और इसी में राग-द्वेष रहते हैं। तात्पर्य यह है कि अहंता (मैं-पन) में राग-द्वेष रहते हैं और राग द्वेष से अहंता पुष्ट होती है। जड़-चेतन की ग्रन्थिरूप अहंता के मिटने पर राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है क्योंकि अहंता पर ही राग-द्वेष टिके हुए हैं। "यह मेरा है" इस प्रकार के ममत्व को ममकार कहते हैं और गर्व को अहंकार कहते हैं। यह साधारण व्यक्ति होकर भी मुझ पर क्यों चिल्लाता है अथवा मुझे क्यों मारता है—यह भावना अहंकार है। ममकार का नाम राग है और अहंकार का नाम द्वेष।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये व्यक्ति के चित्त को अपने रंग से रंगीन बना देते हैं व कलुषित कर देते हैं इसीलिए इन्हें कषाय भी कहते है। कषाय के तारतम्य की चार रेखाएँ हैं :—

अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम), अप्रत्याख्यान (तीव्रतर), प्रत्याख्यान (तीव्र), संज्वलन (मन्द)। तीव्रतम कषाय के उदयकाल में सम्यक् दृष्टि उपलब्ध नहीं होती। दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता। सम्यक् देखने का हमें अवसर ही नहीं मिलता। एक के बाद दूसरी गलती करते ही चले जाते हैं और दृष्टि में हर समय भ्रम छाया हुआ रहता है। *यह प्रखरतम आवेग हमारी दृष्टि को विभ्रांत कर देता है।* जब क्रोध अनन्तानुबंधी की कोटि का होता है, तब वह सहजता से नहीं जाता। वह चट्टान की दरार जैसा होता है। जैसे चट्टान में दरार पड़ने पर वह फिर मिटती नहीं, अमिट बन जाती है, उसी प्रकार क्रोध की छाप अमिट होती है। यह मिथ्यादृष्टि की

अवस्था है और इसको मिथ्यादृष्टि गुण स्थान कहते हैं। अनन्तानुबंधी की अवस्था का विलय होते ही व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। उसका परिशोधन हो जाता है और मनोवेग क्षीण हो जाता है। व्यक्ति के मनोवेग की तीव्रता कम होते ही उसमें अप्रत्याखान की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था को सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। यह सत्य को सत्य जानने की भूमिका है। व्यक्ति जो जैसा है उसे वह वैसा जानने लग जाता है। कई बार हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि धर्म का मार्ग बहुत अच्छा है, परन्तु हम उस पर चल नहीं सकते। ध्यान धरना बहुत अच्छा है पर यह हम कर नहीं पाते। हमारे पास करने को कई काम है इसलिए न तो धर्म ध्यान करने की इच्छा होती है और न उसके लिए हमें समय मिलता है। यद्यपि ध्यान भी एक प्रवृत्ति है, साधना भी एक प्रवृत्ति है फिर भी इसमें हमारा मन नहीं लगता। मन उसी में लगता है जिसे हम रात दिन करते आ रहे है। इसका मूल कारण है अप्रत्याखान कषाय की विद्यमानता या कुछ इस प्रकार के मनोवेग का होना। इस स्थिति में क्रोध भी खेत की सूखी मिट्टी की रेखा के समान हो जाता है।

जैसे ही अप्रत्याखानावरण या मनोवेग की अवस्था उपशमित या क्षीण होती है, व्यक्ति के मन में भावना होती है कि संसार से विरति का, त्याग का, ध्यान करने का रास्ता अच्छा है और इस पर अवश्य चलना चाहिये। इस अवस्था में क्रोध बालू की रेखा के समान विनाशशील हो जाता है और इस स्थिति को देश विरति गुणस्थान भी कहा जाता है। इस तरह आत्मिक विकास की ओर बढ़ते बढ़ते मोह का बन्धन टूटता जाता है और मनोवेग भी लगभग समाप्तहो जाता है। व्यक्ति विरति के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है और साधु सन्यासी भी बन जाता है। क्रोध जल की रेखा के समान हो जाता है। यह संज्वलन की अवस्था है।

चार कषायों की तीव्रता और मन्दता के आधार पर सलहो प्रकार की अवस्था बनती है। वह इस प्रकार है:-

१. अनन्तानुबन्धी–तीव्रतम क्रोध, पत्थर की रेखा के समान (स्थिरतम)।
२. अप्रत्याख्यानी–तीव्रतर क्रोध, गीली मिट्टी या खेत की सूखी मिट्टी की रेखा के समान (स्थिरतर)।
३. प्रत्याख्यानी–तीव्र क्रोध, धूलि या बालू रेत की रेखा के समान (स्थिर)।
४. संज्वलन–मन्द क्रोध, जल की रेखा के समान (अस्थिर-तात्कालिक)।
५. अनन्तानुबन्धी–तीव्रतम मान, पत्थर के खम्भे के समान (दृढ़तम)।
६ अप्रत्याख्यानी–तीव्रतर मान, हाड़ के खम्भे के समान (दृढ़तर)।
७ प्रत्याख्यानी–तीव्र मान, काष्ठ के खम्भे के समान (दृढ़)।
८ संज्वलन–मन्द मान, लता के खम्भे के समान (लचीला)।
९. अनन्तानुबन्धी–तीव्रतम माया, बांस की जड़ के समान (वक्रतम)।
१० अप्रत्याख्यानी–तीव्रतर माया, मेंढे के सींग के समान (वक्रतर)।
११ प्रत्याख्यानी–तीव्र माया, चलते बैल की मूत्र धारा के समान (वक्र)।
१२. संज्वलन–मन्द माया, छिलते बांस की छाल के समान (स्वल्प वक्र)।
१३. अनन्तानुबन्धी–तीव्रतम लोभ, कृमि रेशम के समान (गाढ़तम)।
१४. अप्रत्याख्यानी–तीव्रतर लोभ, कीचड़ के समान (गाढ़तर)।
१५. प्रत्याख्यानी–तीव्र लोभ, खंजन के समान (गाढ़ा)।
१६ संज्वलन–मन्द लोभ, हल्दी के समान (तत्काल उड़ने वाला)।

इन कषायों को उत्तेजित करने वाले तत्वों को नो-कषाय कहते है। 'नो' का अर्थ है ईषद, थोड़ा। नोकषाय भी आंशिक रूप से कषाय के रूप है। नोकषाय नौ हैं।

१. हास्य—सकारण व अकारण हंसी करने वाले कर्म-पुद्गल।
२. रति-सकारण व अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति राग उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।
३. अरति-सकारण व अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।
४. भय—सकारण या अकारण भय उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।
५. जुगुप्सा-सकारण या अकारण घृणा उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।
६. शोक-सकारण या अकारण शोक उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।
७. स्त्रीवेद-सकारण या अकारण पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म पुद्गल।
८. पुरुषवेद-सकारण या अकारण स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा करने वाले कर्म पुद्गल।
९. नपुंसक वेद-सकारण या अकारण स्त्री व पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा करने वाले कर्म पुद्गल।

कषाय और नो-कषाय का जितना अधिक क्षयोपक्षम्, उपशम और क्षय होता है, चारित्र की उज्वलता उतनी अधिक बढ़ जाती है।

कषायों से मुक्त होने सम्बन्धित श्री यशपाल जैन लिखित एक रोचक कथा है वह इस प्रकार है:-

एक आदमी एक साधु के पास गया और बोला, "महाराज, मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूं। क्या आप करा सकेंगे?"

साधु बड़े विवेकशील थे और आदमी से बोले, "तुम्हारी इच्छा मैं पूरी करूंगा, पर तुम्हें एक काम करना होगा।"

आदमी ने उत्सुकता से पूछा, "क्या काम है" महाराज!"

साधु ने कहा, "मेरे पास एक गठरी है। उसे तुम्हें अपने सिर पर रख कर सामने के पहाड़ की चोटी पर चढ़ना होगा। मैं तुम्हारे साथ चलूंगा।"

आदमी ने खुशी से साधु की बात मान ली और अगले दिन सवेरे वह साधु के पास पहुँचा और उसके संकेत के अनुसार गठरी उठाई, सिर पर रख ली, और दोनों चल दिये। पहाड़ की चढ़ाई पर कुछ देर तो उत्साह रहा, बाद में सिर की गठरी भारी लगने लगी। उसने साधु से कहा, "स्वामीजी, बड़ी थकान हो गई है। चला नहीं जाता।"

साधु बोले, "अच्छा इस गठरी में पाँच पत्थर हैं। एक पत्थर फेंक दो।"

आदमी ने एक पत्थर फेंक दिया, गठरी कुछ हलकी हो गई। आदमी फिर उसे उठा कर चलने लगा। लेकिन बीस तीस कदम चलने पर उसे हैरानी होने लगी। साधु से कहा तो उसने एक और पत्थर फिकवा दिया। फिर हैरानी हुई तो तीसरा फिर चौथा और फिर पाँचवा पत्थर भी फिकवा दिया।

दोनों पहाड़ की चोटी पर चढ़ गये। आदमी ने चैन की सांस ली। बोला, 'अब कराइये ईश्वर के दर्शन।"

साधु ने उनकी ओर देखा, और बोले,—"मूर्ख, पाँच पत्थरों की गठरी लेकर तू पहाड़ की चोटी पर नहीं चढ़ सका, लेकिन काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि कषायों के भारी पत्थर दिल में रख कर तू ईश्वर के दर्शन करना चाहता है। जिस तरह पत्थरों को फेंके बिना तू पहाड़ की चोटी पर नहीं चढ़ सका, वैसे ही अगर तू ईश्वर से साक्षात्कार करना चाहता है जो पहले अपने विकारों को दूर कर। अन्तर में निर्मलता होते ही प्रभु के दर्शन हो जायेंगे।

योग आस्रव (Activities of mind, speech and body) :— "कायवाङ्मनोव्यापारो योगः" शरीर, वचन एवं मन के व्यापार को योग कहते है। इसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आस्रवण यानि आगमन होता रहता है इसलिए यह आस्रव कहलाता है। मनुष्य के पास प्रवृत्ति के तीन साधन हैं-शरीर, वाणी और मन। ये तीनों मिलाकर योग आस्रव कहलाते हैं। योग का अर्थ है प्रवृत्ति, चंचलता, सक्रियता। योग आस्रव अपने आप में दुःख या सुख का हेतु नहीं है। जब मनुष्य का चैतन्य कषायों से मूर्च्छित होता है तब वह इनमें प्रवृत्त होता है और दुःख का हेतु बन जाता है। जब व्यक्ति तप, ध्यान आदि धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त होता है तब सुख का हेतु बन जाता है। प्रत्येक जीव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति होती है परन्तु घाती कर्मों के कारण ज्ञान, दर्शन आवृत्त रहते हैं, सुख विकृत रहता है और शक्ति सुप्त रहती है। राग-द्वेष व क्रोध, मान, माया, लोभ के कारण मुख की लालिमा, भृकुटि आदि जो दृश्यमान विकार हैं वह योग आस्रव है। इनके कारण जो आत्मा की आन्तरिक वृत्ति है वह कषाय आस्रव है।

जीव में जो अशुद्धि है वह स्वाभाविक नहीं है बल्कि सर्वथा आस्रव जनित है। ईंधन में जिस मात्रा में आर्द्रता होती है उसी मात्रा में उसके जलने पर प्रकाश के साथ धुंआ भी निकलता है। ठीक उसी तरह जब तक आत्मा के साथ कषाय आदि आस्रवों की आर्द्रता प्रबल होती है तब तक उसके साथ कर्म-बन्धन का धुंआ भी प्रबल रूप से रहता है। जब व्यक्ति के कषाय नष्ट हो जाते हैं तब अशुभ कर्मों का बन्धन तो सर्वथा रुक जाता है और शुभ कर्म जो बंधते हैं वह भी बहुत कम समय के लिए बंधते हैं और तत्काल उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं। फिर आत्मा को कर्मों से मुक्त होने में कोई बाधा नहीं आती। बारहवें क्षीण-मोह गुण स्थान में यही बताया गया है कि इस अवस्था में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है। पूर्व अवस्था में संज्वलन लोभ का अस्तित्व नहीं मिटता परन्तु इस अवस्था में वह पूर्ण रूप से मिट जाता है और आत्मा पूर्ण वीतराग हो जाती है।

आस्रव के आधार पर ही जीव के दो विभाग बनते हैं बद्ध और मुक्त। आस्रव युक्त जीव बद्ध और आस्रव रहित जीव मुक्त होता है। चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, तपस्या, प्रतिपक्ष भावना और ध्यान साधना के द्वारा आस्रव की शक्ति को उपशान्त या क्षीण करने पर ही आत्मा के स्वरूप की अनुभूति हो सकती है।

इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम्।
संस्पृश्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं, परमात्मा भविष्यति॥

इन्द्रियों का संयम कर, चित्त का निग्रह कर, आत्मा का आत्मा से स्पर्श कर, इस तरह तू परमात्मा बन जायगा।

कर्मवाद के मूल सिद्धान्तों पर आज प्रायः सभी धर्मों की

सहमति पाई जाती है और आज भी प्रत्येक धर्म गुरु इन सिद्धान्तों के माध्यम से अपने अनुयायियों को धर्मोपदेश देकर सत्काय करने की एवं सत्मार्ग होने के लिए प्रेरित करते हैं।

परस्पर में एक दूसरे को सहारा यह प्रकृति का अटल नियम हैं। एक को दूसरे का सहारा मिलता हैं, इसमें कोई विरोध नहीं हैं। विरोधी युगल साथ रह सकते हैं यह नियम जब आंखों से ओझल हो जाता हैं, तब विरोध पनपता हैं।

संदर्भः— १. आचार्य श्री तुलसी, आयारो पेज १४६
२. युवाचार्य महाप्रज्ञ, सम्बोधि
३. यशपाल जैन, प्रभु मिलन, धर्म-युग १६-१०-७७

कर्मों की अवस्थाएँ

संसारी जीव कर्म सहित होते हैं। कर्म के सहयोग से वे विविध अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं और जीव के पुरुषार्थ से कर्म की विविध अवस्थाएँ हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जीव का योग पाकर कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल कर्म हैं और कर्म के योग से जीव संसारी जीव हैं।

हर पदार्थ की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होती हैं, पर्याय होती हैं। पदार्थ है तो पर्याय का होना जरूरी है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं होता जिसमें रुपान्तरण न हो, बदलाव न हो, पर्याय या परिवर्तन न हो। हर पदार्थ के पर्याय भी अनन्त हैं। इस दृष्टि से कर्म की पर्याय भी अनन्त है। किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में जो वर्गीकरण किया गया है, वह स्थूल अवस्थाओं की दृष्टि से है और ये अवस्थाएँ दस हैः—बन्ध, उद्वर्तना, अपवर्तना, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

१. बन्ध

सबसे पहली अवस्था है बंध (Envelopment of the soul by skandhas):—"कर्म पुद्गलादानं बन्धः"। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का दूध पानी की तरह मिलन कर्म बन्ध की अवस्था है। यह अवस्था आत्मा और कर्मों की एकीभूत होने की है। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग ये पांच आस्रवों के निमित्त से जीव के असंख्यात् प्रदेशों में कम्पन पैदा होते हैं। इन कम्पनों के फलस्वरूप जिन क्षेत्रों में आत्म प्रदेश हैं उन क्षेत्रों में जहां अनन्तानन्त कर्म-योग्य पुद्गल विद्यमान हैं वहां से जीव के एक एक प्रदेश के साथ चिपक जाते हैं, बंध जाते हैं। जीव प्रदेशों

के साथ इन कर्म पुद्गलों का इस प्रकार चिपक जाना (बंध जाना) ही बध कहलाता है। "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः" प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश ये चार प्रकार के बंध होते हैं :—

१. प्रकृति बन्धः— 'सामान्योपातकर्मणां स्वभावः प्रकृतिः" सामान्य रूप से ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों का जो स्वभाव होता है उसे प्रकृति बंध कहते है। जीव की शुभ प्रवृत्ति के साथ ग्रहण किये हुऐ कर्म-पुद्गल शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति से ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल अशुभ होते है। कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान को रोकने का स्वभाव, दर्शन को रोकने का स्वभाव इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव का होना प्रकृति बन्ध कहलाता है। कर्मों की प्रकृतियाँ सख्या में कितनी भी हो सकती हैं परन्तु यहा मूल प्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतियां सत्तानवे ही पाई गई हैं। आठ प्रकृतियों में चार प्रकृतियां नितान्त पाप हैं और चार प्रकृतियां पुण्य और पाप दोनों हैं।

उत्तर प्रकृतियां:-ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण नौ, वेदनीय दो, मोहनीय अठ्ठाईस(दर्शन मोहनीय तीन, चारित्र मोहनीय पच्चीस,) आयुष्य चार, नाम बयालीस, गोत्र दो और अन्तराय पांच कुल सत्तान्वे।

मूल प्रकृतियांः—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय कुल आठ।

ज्ञानावरणीय कर्म :—

कुर्वन् कर्माणि मोहेन सकर्मात्मा निगद्यते।
अर्जयेदशुभं कर्म, ज्ञानमावियते ततः॥

मोह के उदय से जो व्यक्ति क्रिया करता है, वह सकर्मात्मा कहलाता है। सकर्मात्मा अशुभ कर्म का बन्धन करता है और उससे ज्ञान आवृत होता है। ज्ञान को आच्छादित करके इसके प्रकाश को घटा देने वाली प्रकृति ज्ञानावरण कहलाती है। इसको आंख की पट्टी की उपमा दी गई है।

ज्ञान या ज्ञानी से प्रतिकूलता रखना, ज्ञानी को कहना कि वह ज्ञानी नहीं है, किसी को ज्ञान प्राप्त करने में विघ्न डालना, ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना, उसकी अवहेलना करना, उसके वचनों में विरोध दिखाना—ये सब ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन के कारण हैं।

दर्शनावरणीय कर्मः- दर्शन को आवृत करके उसके प्रकाश को घटाने वाली प्रकृति दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

आवृत दर्शनं चापि, वीर्यं भवति बाधितम्।
पौद्गलिकाश्च संयोगाः, प्रतिकूलाः प्रसृत्वराः॥

अशुभ कर्म-बन्धन से दर्शन आवृत होताहै, वीर्य (आत्म-शक्ति) का हनन होता है, और प्रसरणशील पौदगलिक (भौतिक) सुखों की अनुकूलता नहीं रहती। यह कर्म प्रतिहारी (द्वारपाल) के समान है।

उदयेन च तीव्रेण ज्ञानावरण कर्मणः।
उदयो जायते तीव्रो, दर्शनावरणस्य च॥
तस्य तीव्रोदयेन स्यात्, मिथ्यात्वमुदितं ततः।
अशुभानां पुद्गलानां, संग्रहो जायते महान्॥

ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से मिथ्यात्व (दृष्टि की विपरीतता) का उदय होता है और उससे बड़ी मात्रा में अशुभ कर्मों का बन्धन होता है।

दर्शन या दार्शनिक से प्रतिकूलता रखना, दार्शनिक को कहना कि वह दार्शनिक नहीं है, किसी को शुभ का दर्शन करने में विघ्न डालना, दर्शन या दार्शनिक से द्वेष रखना, उसकी अवहेलना करना, दर्शन या दार्शनिक के वचनों में विरोध दिखाना—ये सब दर्शनावरणीय कर्म—बन्धन के कारण हैं ।

वेदनीय कर्मः- इष्टानिष्ट बाह्य विषयों या भोगों का संयोग व वियोग कराने वाली 'वेदनीय' प्रकृति है । इष्ट शरीर, इष्ट कुल व इष्ट भोगों को प्राप्त कराने वाली प्रकृति का नाम सातावेदनीय है और इसके विपरीत भोगों को पाप्त कराने वाली प्रकृति का नाम असाता वेदनीय है । वेदनीय कर्म के उदय होने को मधु-लिप्त तलवार की धार की उपमा दी गई है क्योंकि यह वह अवस्था है जहाँ मधु चाटने से स्वाद मालूम होता है परन्तु साथ ही साथ जीभ भी कट जाती है ।

साता वेदनीय कर्म-बन्धन के छः कारण हैं :- प्राण, भूत, जीव और सत्व को अपनी असत् प्रवृत्ति से दुःख न दे, दीन न बनाये, शरीर को हानि पहुँचाने वाला शोक पैदा न करे, न सताये, लाठी आदि से प्रहार न करे । असाता वेदनीय कर्म का बन्ध उक्त कामों को करने से होता है ।

जैसे किसी श्वेत कपड़े पर काले धब्बे के लगने से उसकी सफेदी में विरूपण आ जाता है उसी तरह पाप रूपी काले धब्बे के लगने के कारण आत्मा की विशुद्धता पर कुसंस्कारों का विरूपण छा जाता है । दूसरी ओर यदि उसी सफेद वस्त्र पर केसर के छींटे गिर जायेंगे तो वह वस्त्र सुवासित हो जाएगा परन्तु कपड़े की सफेदी में विरूपण आजाएगा । पुण्य परमाणु सुख सुविधा के निमित्त बन सकते हैं किन्तु कर्मों से मुक्त होने में सहायक

नहीं हो सकते। पाप और पुण्य दोनों बन्धन के कारण हैं। ठीक यही बात अशुभ व शुभ कर्मों के सम्बन्ध में लागू होती है। अशुभ कर्म का होना अनिष्ट सूचक संयोग है और शुभ कर्म का होना इष्ट सूचक संयोग है। शुभ व अशुभ इन दोनों का समागम इस संसार में दृष्टिगोचर होता है।

मोहनीय कर्म :- चेतना को विकृत या मूर्च्छित करने वाला कर्म-पुद्गल मोहनीय कर्म है। समता और क्षमता (प्रशान्ति) को विकृत करके राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली मोहनीय प्रकृति है। यह कर्म-पुद्गल आत्मा को मूढ बनाने वाला होता है। इसको मद्यपान की उपमा दी गई है। जिस प्रकार मद्यपान करने वाले को सुध-बुध नहीं रहती, वैसे ही उस व्यक्ति की तत्त्व श्रद्धा विपरीत होकर विषय-भोगों में आसक्ति हो जाती है जिसका मोहनीय कर्म उदय में आता है। तीव्र क्रोध, मान, माया व लोभ, दर्शन मोह व चारित्र-मोह, तीव्र मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, आदि तीव्र नो-कषाय यह सभी मोहनीय कर्म–बन्धन के कारण हैं।

आयुष्य कर्म :- नरक, देव, मनुष्य व तिर्यन्च गतियों या शरीरों में किसी निश्चित काल पर्यन्त जीव द्रव्य को रोक रखने वाली आयु नामक प्रकृति है। शुभ या अशुभ आयुष्य बंध में हेतुभूत पुद्गल समूह आयुष्य कर्म है। इस कर्म को 'काठ के खोड़े' की उपमा दी गई है। जिस प्रकार काठ के खोड़े में दिया हुआ आदमी उसको तोड़े बिना नहीं निकल सकता, वैसे ही आयुष्य कर्म को पूरा भोगे बिना जीव एक भव से दूसरे भव में नहीं जा सकता और आयुष्य कर्म का क्षय किये बिना मोक्ष भी नहीं पा सकता। इसके क्षय से ही आत्मा अ-मृत और अ-जन्मा बन सकती है।

आयुष्य कर्म-बन्ध के कारण यह है:—

क) नरकायु बन्धने के चार कारण हैं :- महा आरम्भ, महा परिग्रह, पचेन्द्रिय वध और मांसाहार ।

ख) तिर्यञ्चायु बंधन के चार कारण है :- माया करना, गूढ़ माया करना (जैसे एक कपट को ढकने के लिये दूसरा छल करना) असत्य बचन बोलना, कूट तोल-माप करना ।

ग) मनुष्यायु बंधने के चार कारण हैं :- सरल प्रकृति होना, प्रकृति–विनीत होना, दया के परिणाम रखना, ईर्ष्या न करना ।

घ) देवायु बंधने के चार कारण हैं :-

१. सराग संयमः–राग युक्त सयम पालना (आयुष्य का बन्ध न तो राग से होता है और न संयम से । वह तो सरागी संयमी की तपश्चर्या से होता है और भेदोपचार से सराग सयम कहा गया है) ।

२. संयमासंयम :–श्रावकपन पालना ।

३. बाल तपस्या :–मिथ्यात्वी की तपस्या ।

४. अकाम निर्जरा:–मोक्ष की इच्छा विना या अध्यात्मिक लक्ष्य बिना तपस्या करना ।

नाम कर्म :-नाम कर्म का काम एक चित्रकार के कार्य के समान हैं । जिस प्रकार विभिन्न नये चित्रों का निर्माण करना एक चित्रकार पर निर्भर करता है उसी तरह भिन्न भिन्न प्रकार के शरीर का निर्माण करना,नाना प्रकार के रुप और तरह तरह के अंगोपांग आदि का यथायोग्य निर्माण होना नाम कर्म के उदय की अवस्था पर आधारित है । अर्थात शुभ नाम कर्म के उदय मे

जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष की ओर बढ़ता है और अशुभ नाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष प्राप्त करता है। हमारे पूरे शरीर का निर्माण होना, हमारा यश या अपयश का पाना, वस्तु का आदेय होना या अनादेय होना, यह सब नाम कर्म के आधार पर यथायोग्य संभव होता है। सुंदर होना, असुंदर होना, मृदु स्वर वाला या कटु स्वर वाला होना, सौभाग्य शाली होना, या अभागा होना यह सब नाम कर्म की प्रकृतियों के ऊपर निर्भर है। नाम कर्म की भी विभिन्न प्रकृतियां हैं। आदेय नाम कर्म के उदय से व्यक्ति का वचन लोगों को मान्य होता है और अनादेय नाम कर्म के उदय से व्यक्ति का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी अमान्य होता है। सुभग नाम कर्म के उदय से किसी प्रकार का उपकार किये बिना व संबंध के बिना भी व्यक्ति दूसरों को प्रिय लगता है। दुभग नाम कर्म के उदय से उपकारक व संबंधी भी अप्रिय लगता है। चारों गतियों (देव, मनुष्य, तिर्यन्च और नरक) पांचों इन्द्रियों (एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक) पांचों काय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु व वनस्पति) से लेकर मनुष्य पर्यन्त जीवों के शरीरों का निर्माण करने वाली रंग बिरंगी, कलायुक्त व चितेरी प्रकृति "नाम कर्म" संज्ञा को प्राप्त होती है। इन सभी जीवों में सुन्दर या असुन्दर होना, सबल व निर्बल होना, शुभ या अशुभ होना, यह सब नाम कर्म के कारण होता है। अतः एव यह कहा जा सकता है कि शरीर रचना की उत्कृष्टता व निकृष्टता का कारण नाम कर्म है। अशुभ नाम कर्मबन्धन के कारण यह है :—

१. काय ऋजुता—दूसरों को ठगने वाली शारीरिक चेष्टा करना।
२. भाव ऋजुता—दूसरों को ठगने वाली मानसिक चेष्टा करना।
३. भाषा ऋजुता—दूसरों को ठगने वाली वाचिक चेष्टा करना।

४. अविसंवादन योग—कथनी और करनी में विसंवादन न रखना।

उक्त कार्यों को करना शुभ नाम कर्म-बन्धन के कारण हैं।

गौत्र कर्म :—गौत्र कर्म कुम्भकार के समान हैं। जिस प्रकार विभिन्न रूप वाले मिट्टी के बर्तन तैयार करना एक कुम्भकार का कार्य है वैसे ही जीव का दूसरे से अच्छी दृष्टि से देखा जाना या तुच्छ दृष्टि से देखा जाना, उच्च कुल में होना या नीच कुल में होना, या दीन हीन होना ये सब गौत्र कर्म रूपी कुम्भकार पर निर्भर करता है। गौत्र कर्म के अनुभाव (चित्त की भावनाओं को प्रकट वाले लक्षण) आठ हैं :—जाति विहीनता, कुल विहीनता, बल विहीनता, रुप विहीनता, तप विहीनता, श्रुत विहीनता, लाभ विहीनता और ऐश्वर्य विहीनता।

जाति, कुल, बल, रूप, तपस्या, श्रुत (ज्ञान) लाभ, ऐश्वर्य आदि इनका मद न करना उच्च गौत्र-बन्ध का कारण है और मद करना नीच गौत्र-बन्ध का कारण है। अर्थात् दूसरों द्वारा किसी जीव को अच्छी या बुरी दृष्टि से देखे जाने में गौत्र-कर्म निमित्त बनता हैं।

अन्तराय कर्म :—अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पहुंचाने वाला कर्म अन्तराय कर्म कहलाता है। इस प्रकार के कर्म की उपमा राजा के एक भण्डारी (कोषाध्यक्ष) से दी गई है। जिस प्रकार राजा की इजाजत होने पर भी भण्डारी के दिये बिना अमुक वस्तु इजाजत प्राप्त किए व्यक्ति को नहीं मिलती, वैसे ही अन्तराय कर्म-बन्धन के दूर हुए बिना इच्छित वस्तु सरलता से नहीं मिलती। इसके अनुभाव पांच हैं :—दानान्तराय, लाभान्त-

राय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (उत्साह या सामर्थ्य) इन सब में बाधा डालना अन्तराय कर्म-बन्ध के कारण हैं।

ये आठ कर्म, उनका कार्य और कर्म-बन्धन के कारण प्रकृति बंध के अन्तर्गत आते हैं।

२. **स्थिति बंध :**—जीव के द्वारा जो शुभाशुभ कर्म पुद्गल ग्रहण किये गये हैं, वे अमुक काल तक अपने स्वभाव को कायम रखते हुए जीव-प्रदेशों के साथ बंधे रहेंगे, उसके बाद वे शुभ या अशुभ रूप में उदय में आयेंगे। इस प्रकार कर्मों का निश्चित काल तक के लिये जीव के साथ बंध जाना या बंधे रहना स्थिति बंध है।

३. **अनुभाग बंध :**—यह रस बंध भी कहलाता है। कुछ कर्म तीव्र रस से बंधते हैं और कुछेक मंद रस से। शुभाशुभ कार्य करते समय जीव की जितनी मात्रा में तीव्र या मंद प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुरूप कर्म भी बंधते हैं और उनमें फल देने की वैसी ही शक्ति होती है। तीव्र परिणामों से बंधे हुए कर्मों का विपाक तीव्र और मंद परिणामों से बंधे हुए कर्मों का विपाक मंद होता है। यह सब अनुभाग बंध के कारण है।

४. **प्रदेश बंध :**—भिन्न भिन्न कर्म-दलों में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश-बंध है। ग्रहण किये जाने पर भिन्न भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्म-पुद्गल राशि स्वभावानुसार अमुक अमुक परिमाण में बंट जाती है—यह परिणाम विभाग ही प्रदेश बंध कहलाता है। जीव संख्यात व असंख्यात परमाणुओं से बने हुए कर्म-पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता, परन्तु अनन्त परमाणु वाले स्कन्धों को ग्रहण करता है।

२. उद्‌वर्तना

यह कर्म की दूसरी अवस्था है। स्थिति बंध और अनुभाव बंध के बढ़ने को उद्‌वर्तना कहते हैं। जिस कर्म की जितनी स्थिति बंधी हुई है, उसे किसी निमित्त से बढ़ा देना उद्‌वर्तना है।

३. अपवर्तना

यह कर्म की तीसरी अवस्था है। स्थिति बंध और अनुभाव बंध के घटने को अपवर्तना कहते है। कर्मो की बंधी हुई स्थिति को उसे किसी निमित से कम कर देना अपवर्तना है।

उद्‌वर्तना और अपवर्तना के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई देर में; किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मंद।

४. सत्ता

यह कर्म की चौथी अवस्था है। कर्म-वन्धन के बाद कर्म का फल तत्काल नहीं मिलता, कुछ समय के बाद मिलता है। कर्म जब तक फल न देकर अस्तित्व रूप में रहता है तब तक उसे सत्ता कहते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि वन्धन के बाद जब तक कर्म जीव को फल नहीं देता है तब तक आत्मा से संलग्न रहता है पर सक्रिय रूप में नहीं। उस समय उसका अस्तित्व है, पर वह सक्रिय नहीं है। इस दृष्टि से इस अवस्था को सत्ता के रूप में माना गया है

५. उदय

यह कर्म की पाँचवीं अवस्था है। आत्मा के साथ एकीभूत कर्म पुद्‌गल सक्रिय हो जाते हैं उस स्थिति को उदय

कहते हैं। ऐसा जब होता है जब स्थिति-बन्ध पूर्ण होने पर कर्म शुभ या अशुभ रूप में भोगे जाते हैं।1.उदय का अर्थ है काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है यह उसका अनुदय है। दूसरी अवस्था की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बंधे हुए कर्म पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनका निषेक प्रगट होने लगता है वह उदय है। "कर्म निषेको नाम कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचना विशेष" अर्थात् कर्म-पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना विशेष।

उदय दो प्रकार का होता है—फलोदय और प्रदेशोदय। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, उसे फलोदय या विपाकोदय कहते हैं। जो कर्म उदय में आकर भी बिना फल दिये नष्ट हो जाता है, केवल आत्म-प्रदेशों में भोगा जाता है, उसे प्रदेशोदय कहते हैं। ऐसे कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर कुछ भी बाह्य असर नहीं दिखाई देता।

कर्म-पुद्गलों के परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख रूपी फल मिलता है वह उनकी उदयमान अवस्था है। कर्मों के इस विपाक का, उदय का या परिणाम का बीज आखिर है कहाँ ? यह एक प्रश्न है। कभी-कभी हमें लगता है कि अमुक बात अकस्मात् घटित हो गई। किन्तु कुछ भी आकस्मिक रूप से घटित नहीं होता। उसके घटित होने के पीछे एक कारण है जो अब तक छिपा हुआ था। जो कर्म बीज अनुकूल स्थिति पाकर अंकुरित हो जाता है वही कारण है। एक सामान्य जीवन व्यतीत करने

वाला व्यक्ति कभी-कभी असामान्य आचरण कर लेता है। हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं और कहते हैं "अरे! यह व्यक्ति बहुत सज्जन था, इस प्रकार का असामान्य काम वह कर नहीं सकता।" आप उसके गत पचास वर्ष के सादे जीवन को देख कर, जो आपकी आंखों के सामने गुजर चुका है, इतना आश्चर्य करते है पर उस व्यक्ति का सम्पूर्ण कार्मण जीवन केवल पचास वर्ष का प्रत्यक्ष जीवन ही नहीं है उसके पीछे उसके परोक्ष जीवन के कर्म भी नीहित है जो उसके पूर्व-जन्म के कर्म-बन्धन से सम्बन्ध रखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति के पचास वर्ष से आचरण मे होने वाला जो व्यवहार है उसका अचानक अव्यवहारिक होना केवल वर्तमान जीवन का ही प्रतिफल नहीं है किन्तु यह उसके और किसी पूर्व-काल-कृत कर्मों का भी प्रतिफल हो सकता है जो अब फलीभूत हो रहा है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें व्यक्ति के अतीत के कई जन्मों या कई भवों को भी ध्यान मे रखना होगा। साथ ही साथ हमारे जीवन में जितनी घटनाएँ घटित हुई हैं, वर्तमान में जितने भी तरह के आचरण हुए है, उन सब का स्रोत देखना होगा। वह स्रोत है अवचेतन मन। अवचेतन मन का स्तर अत्यन्त शक्तिशाली है। धर्म-शास्त्रों में इस बात का उल्लेख पढ़ने को मिलता है कि व्यक्ति जो कुछ करता हैं उसके पीछे अज्ञात कर्म-शक्ति की प्रेरणा निहित रहती है। "कम्मूणा जायए" वह कर्म से ही होता है। यही एक प्रेरक तत्व है। हमारे सभी तरह के आचरण का मूल स्रोत है कर्म। अभी जो कर्म संचित हैं या यों कहा जाय कि जो कर्म अस्तित्व में है या सत्ता में है, वे ही कर्म जब उदय में आते हैं या विपाक की अवस्था में होते है, तब नाना प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं। तब व्यक्ति का सारा का सारा व्यक्तित्व कर्मों के उदय काल की प्रेरणा के आधार पर चलता है। कर्म सिद्धान्त

को दार्शनिक भाषा में जिसे हम कर्मों का विपाक में आना कहते हैं उसे ही हम मनोविज्ञान की भाषा में दमित इच्छाओं का "उभार" में आना कह सकते हैं।

कोई व्यक्ति किसी अतींद्रिय ज्ञानी मुनि के पास गया और उसे निवेदन किया, "भंते ! वर्तमान में जो अमुक कर्म-फल मैं भोग रहा हूं वह मेरे कौन से कर्मों के विपाक में आने का कारण बना है ? तब अतींद्रिय ज्ञानी मुनि कहते हैं, "तुमने अपने पहले के अमुक जीवन में अमुक प्रकार की प्रवृत्ति की थी उसी का यह परिणाम है या विपाक है। हमारे अतीत के जीवन को ध्यान में रखे बिना केवल वर्तमान के जीवन के आधार पर हम कर्म की व्याख्या कर उसके फलित होने सम्बन्धित तथ्य नहीं बता सकते। अतः एव जीव की या काम की प्रवृत्ति और परिणाम इन दोनों के सम्बन्ध को विच्छेद कर देखा नही जा सकता। जो परिणाम आज दृश्य है उसके पीछे एक पूर्व काल की प्रवृत्ति छिपी है। परिणाम और प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। हमारी आज की प्रवृत्ति का भविष्य में परिणाम होगा। आज जो हम परिणाम देख रहे हैं वह हमारी अतीत की प्रवृत्ति के कारण है। साथ ही साथ जो वर्तमान क्षण की प्रवृत्ति है उसके पीछे अतीत की प्रवृत्ति के परिणाम का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है। हेतु जुड़ा है। परिणाम कार्य भी है और कारण भी है। अतीत का कारण उसके पीछे है इसलिये वह कार्य भी है और भविष्य के कार्य का वह हेतु है इसलिए वह कारण भी है। निष्कर्ष यह है कि वर्तमान, अतीत और भविष्य इन तीनों के संघटन में रह कर ही हम सत्य को पकड़ सकते हैं केवल वर्तमान में रह कर नहीं।

कर्म - पुद्गलों का सम्बन्ध अतीत से इसलिये हैं, कि वह दीर्घकाल से व अनादिकाल से आत्मा के साथ जुड़ा रहता चला आ रहा है। कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता है और सम्बन्ध स्थापित करने के बाद लम्बे समय तक उससे जुड़ा रहता है। कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से इसलिए है कि वह लम्बे समय तक आत्मा के साथ रहने के बाद एक दिन स्वयं को विसर्जित कर देता है सदा उसके साथ जुड़ा नहीं रह पाता। सदा साथ में जुड़ा वही रह सकता है जो स्थायी है। स्थायी वही हो सकता हैं जो सहज होता है। कर्म सहज नहीं होता, उसका स्वभाव ऐसा नहीं है। सहज है चेतना, सहज है आनन्द, सहज है शक्ति। आत्मा का जो स्वाभाविक गुण है वह है संज्ञान (चैतन्य)। कर्म आया हुआ है, सहज उत्पन्न नहीं हुआ है। वह एक दिन आता है, सम्बन्ध स्थापित करता है और जब तक वह अपना प्रभाव पूरा नही डाल देता तब तक वह अपना अस्तित्व बनाये रहता है। जिस दिन वह व्यक्ति पर अपना प्रभाव डाल देता है अर्थात् अपना फल भोग लेता है, उस दिन उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह विसर्जित हो जाता है। उसके विसर्जित होने का क्षण वर्तमान का क्षण है और आने का क्षण अतीत का क्षण है। उसके विनाश का क्षण वर्तमान का क्षण है और सम्बन्ध स्थापित करने का क्षण अतीत का क्षण है। इन दोनों क्षणों को ठीक से समझने का प्रयत्न करें तो कर्म बन्ध व उदय की पूरी प्रक्रिया हमारी समझ में आ सकती है।

कर्म उदय होने की अवस्था :—हमने कोई भी क्रिया की उसके तत्काल बाद ही कर्मों का बन्धन हो जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि क्रिया अभी हो रही है और कर्मों का बन्धन बाद में फिर कभी हो। कर्म अर्जित होने और उसके विपाक में

आने तक हमारे साथ में उसके रहने के सम्बन्ध में नियम है। इस नियम के अनुसार कर्म अर्जन का काम उसी क्षण (जब कार्य किया जाता है) हो जाता है और उसके विपाक में आने का एवं उसके उपभोग का काल बहुत लम्बा है, आगे का है, कई वर्षों का है। अर्जित कर्मों के विपाक में आने पर व्यक्ति उनका उपभोग दीर्घकाल तक करता रहता है। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति एक साथ बहुत सारा धन कमा लेता है उसे वह एक ही साथ उसी समय खर्च कर दे ऐसी बात नही है. वह उसे दीर्घ समय तक उपयोग में लाता रहेगा। आस्रव का मुख्य कार्य है कर्मों का अर्जन. किन्तु अर्जित कर्म पुद्गल कब सक्रिय होंगे, कब तक निष्क्रिय रूप से रहेंगे इसका नियम अर्जन करने के नियम से भिन्न है। कर्म–पुद्गलों की सक्रियता तत्काल नही होती। उदाहरणार्थ आज जन्मा हुआ बच्चा कानून की दृष्टि से यद्यपि संपत्ति का अधिकारी हो जाता है किन्तु उस सम्पत्ति पर पूरा अधिकार तभी प्राप्त होगा जब वह व्यस्क हो जाएगा। बीज रोपण के तुरन्त बाद फल नहीं दिखाई देते। वह अंकुरित होकर, पल्लवित होगा, फलेगा, फूलेगा, तब फल लगेंगे। सभी कर्मों का निर्जा अस्तित्व काल होता है। जब यह अस्तित्वकाल पूरा होता है तब कर्म विपाक या उदय की स्थिति में आते हैं और अपना फल देने लगते है और प्राणी शुभ या अशुभ फल भोगने लगता है।

> जीव छोटा छोटा कर्तव्य करे, तब पुद्गल लागे ताम।
> ते उदय आया दुःख उपजे, ते आप कमाया काम॥
> पाप उदय थी दुःख हुए, जब कोई मत करज्यो रोष।
> किया जैसा फल भोगवे, पुद्गल नो सु दोष॥

हम भोजन करते है। भोजन करने के बाद भोजन करने की क्रिया से निवृत्त हो जाते है। आगे की सारी क्रियाएं स्वतः

शरीर में होती रहती हैं। भोजन नीचे उतरा, पाचन हुआ, छना भोजन को पचाने वाली रस की क्रिया हुई, रस बना, सारे शरीर में फैला। जो सार तत्व था वह फैला, रक्त बना, सभी क्रियाएँ सचालित हुई। जो असार तत्त्व था, वह बड़ी आंत में आ गया। उत्सर्ग की क्रिया समाप्त हुई। इस शरीर की सारी क्रियाएँ स्वतः सम्पादित होती चली जाती हैं जिसका हमें पता भी नहीं चलता। निष्पादन के लिए कोई प्रयत्न किये बिना भी ये क्रियाएँ सम्पादित होती रहती हैं क्योंकि ये शरीर की स्वचालित क्रियाएँ हैं।

कर्म-पुद्गलों का अदृश्य रूप से ग्रहण किया जाना भी जीव के लिए एक प्रकार का आहार है। जब हम कोई क्रिया करते हैं, तब क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। शारीरिक चंचलता यानि मन, वाणी अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति होने के कारण जो अदृश्य कर्म-पुद्गल हमारी ओर आकृष्ट होते हैं ये सब हमारे आहार हैं। ये पुद्गल हमारे साथ घुल मिल जाते हैं, चिपक जाते हैं। चिपकने के बाद उनमें जो व्यवस्था होती है वह स्वतः होती है। अर्थात् उनमें फल देने की शक्ति आ जाती है और समय आने पर कर्म-पुद्गल उदय में आने लग जाते हैं।

कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी। सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नहीं मिला, क्रोध-वेदनीय पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आगया,-यह उनका निर्हेतुक उदय है। इसी प्रकार हास्य, भय, वेद (विकार) और कषाय के पुद्गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है।

१. अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतुः—

गति-हेतुक उदयः—नरक गति में असाता (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक उदय है। स्थिति-हेतुक उदयः—मोह कर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति हेतुक विपाक उदय है। भव-हेतुक उदयः-दर्शनावरण (जिसके उदय से नींद आती है) सब के होता है, फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनों को आती है, देव और नरक को नहीं आती, यह भव (जन्म) हेतुक विपाक उदय है। गति, स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने आप विपाक-उदय हो जाता है।

२. दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतुः—

पुद्गल-हेतुक उदयः—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असाता का उदय हो गया। यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असाता-वेदनीय का पुद्गल-हेतुक विपाक उदय है। किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया। यह क्रोध वेदनीय-पुद्गलों का सहेतुक विपाक उदय है।

३. पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदयः—भोजन किया वह पचा नहीं, अजीर्ण हो गया, उससे रोग पैदा हुआ। यह असाता-वेदनीय का विपाक उदय है।

४. मदिरा पी, उन्माद छा गया, ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल परिणमन हेतुक-विपाक उदय है। इस प्रकार अनेक हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है। अगर ये हेतु नहीं मिलते तो उन कर्मों का विपाक-रूप में उदय नहीं होता। जो कर्म-बन्धन होता है, वह अवश्य भोगा जाता है।

६. उदीरणा

यह कर्म की छठी अवस्था है। निश्चित उदय-काल से पहले विशेष पुरुषार्थ का प्रयोग कर कर्मों को उदय में लाना उदीरणा कहलाती है। अबाधा-काल पूर्ण होने पर जो कर्म-दलिक बाद में उदय में आने वाले है, उनको प्रयत्न विशेष से खींच कर उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्मों का उदय समय पर ही हो यह आवश्यक नहीं, समय से पहले भी हो सकता है। यदि कर्मों का उदय निश्चित समय पर ही हो तो कर्मवाद एक प्रकार का नियतिवाद हो जाता है। नियतिवाद में पुरुषार्थ की सार्थकता नहीं होती क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य को बदल नहीं सकता। परन्तु भगवान् महावीर ने बतलाया कि मनुष्य अपने आंतरिक प्रयत्न द्वारा कर्मों के उदय की अवधि को घटा भी सकता और बढ़ा भी सकता है। फल शक्ति को मन्द भी कर सकता है और तीव्र भी। तात्पर्य यह है कि तीव्र फल देने वाले कर्म मन्द फल देने वाले के रूप में और मन्द फल देने वाले कर्म तीव्र फल देने वाले के रूप में भोगे जा सकते हैं। कर्मों की स्थिति और रसको मन्द कर देना उदीरणा के द्वारा ही हो सकता है। यदि ऐसा सम्भव नहीं होता तो तपस्या का कोई अर्थ नहीं रहता। नियत समय से पूर्व कर्मों को उदय में लाने के लिये ही तपस्या की जाती है। पातजलयोग भाष्य में भी अदृष्ट जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतियां बताई गई हैं। उनमें कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। एक गति यह है और इसी को जैन दर्शन में उदीरणा कहा है। तेरापंथ सम्प्रदाय के चतुर्थ जयाचार्य रचित प्रसिद्ध ढाल "आराधना" में कहा है:—

"जिन कल्पिक साधु लेवे कष्ट उदीरी रे
तो आव्या उदय किम थाय अधीरो रे ॥ भावे भावना ॥
सही परम जिनेश्वर वेदन असरालो रे ।
सम भावे करी, तोडिया अघ जालो रे ॥ भावे भावना ॥

जिन कल्पिक साधु कष्ट उदेड़ कर लेते हैं तो अगर सहज ही कष्ट उदय में आ जाय तो अधीर क्यों होता है ? जिनेश्वर भगवान् ने असह्य वेदना सम भाव से सहन कर कर्मों के वृन्द के वृन्द तोड़ डाले। इसलिए तपस्या करना व समभाव से कष्टों को सहन करने से कर्मों को उदीरणा होती है।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा–भगवन् !
क्या जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?
क्या जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?
क्या जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-पुद्गलों को उदीरणा करता है ?
क्या जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म पुद्गलों की उदीरणा करता है ?
भगवान महावीर ने उत्तर में कहा—गौतम !
हाँ, जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता।
जीव अनुदीर्ण की उदीरणा भी नहीं करता।
जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्मों की ही उदीरणा करता है।
जीव उदयान्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा भी नहीं करता।
गौतम स्वामी ने फिर भगवान् महावीर से पूछा :—

"भगवन् ! अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-पुद्गलों की जो उदीरणा होती है क्या वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा ?"

भगवान् महावीर ने उत्तर में कहा—"गौतम ! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा नहीं करता।"

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्मों में परिवर्तन लाया जा सकता है, यह स्पष्ट है। परन्तु कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। 'करण' का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार है—शारीरिक, वाचिक व मानसिक व्यापार। उत्थान आदि इन्हीं के अन्तर्गत हैं। योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय में अप्रवृति शुभयोग और उसमें प्रवृत्ति अशुभ योग। शुभ योग तपस्या है, सत् प्रवृत्ति है। यह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है।

यद्यपि पुरुषार्थ द्वारा कर्म-बन्धन के उदय की अवधि को घटाया भी जा सकता है और बढ़ाया भी जा सकता है परन्तु कुछ कर्म ऐसे भी हैं जो लाख प्रयत्न के उपरान्त भी भोगे बिना कट नहीं सकते। आगम की भाषा में उन्हें निकाचित कर्म कहते हैं। जैसे कपड़े पर लगने वाले दाग कोई थोड़े प्रयत्न से उतर जाते हैं और कई दाग ऐसे होते हैं जो कपड़ा फटने तक नहीं उतरते। कर्म के उदय और उदीरणा में भेद इतना ही है कि एक में प्रयत्न बिना ही स्वाभाविक क्रिया व क्रम से कर्म के फल को भोगा जाता है और दूसरे में प्रयत्न करके उसके फल को पहले भोगा जाता है।

अपने संचित कर्म की, जब उदीरणा होय।
तब समता से वेदने, सहज निर्जरा होय॥

चार प्रकार है :–प्रकृति, स्थिति, अनुभाव व प्रदेश। प्रकृति संक्रमण से पहले बंधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव व प्रदेश संक्रमण का परिवर्तन होता है।

स्थानाङ्ग सूत्र (पेज ७०२) में कहा गया है :—

सुभे णाम मेगे सुभ विवागे सुभे णाम मेगे असुभ विवागे।
असुभे णाम मेगे सुभ विवागे असुभे णाम मेगे असुभ विवागे॥

एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है।
एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है।
एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है।
एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है

जो कर्म शुभ रूप में ही बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म शुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ विपाक वाला होता है।

कर्म के बंध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण है यानि बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश।

८. उपशम

यह कर्म की आठवीं अवस्था है। मोह कर्म की सर्वथा

अनुदयावस्था को उपशम कहते हैं। जिस समय मोहनीय कर्म का प्रदेशोदय व विपाकोदय नही रहता, उस अवस्था को उपशम कहते हैं।

९. निधति

यह कर्म की नवमीं अवस्था है। जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन के सिवाय सक्रमरा आदि नहीं होता उसे निधति कहते है। जैसे गुड़ बनने से पूर्व गन्ने की राव बनती है फिर गुड़ जमता है। जो राब है वह है निधति और गुड़ है वह निकाचना। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को प्रगाढ बनाना निधति का काम है।

१०. निकाचना

यह कर्म की दशवीं अवस्था है। जिन कर्मों का फल निश्चित स्थिति और अनुभाग के आधार पर भोगा जाता है; जिनके विपाक को भोगे विना छुटकारा नहीं मिल सकता वे निकाचित कर्म कहलाते हैं। इनको दूसरे शब्दों में निरुपक्रम भी कहते हैं, जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता। निरुपक्रम का कोई प्रतिकार नहीं होता। आज भी यदि कोई व्यक्ति जघन्य अपराध करे और उसको सत्र न्यायालय द्वारा फांसी की सजा हो जाय; तो उच्चतम न्यायालय भी उस सजा को बहाल रखता है। यहां तक कि ऐसे अपराधी को राष्ट्रपति भी क्षमा नहीं करता और उस सजा को भोगकर ही व्यक्ति इस जीवन से छुटकारा पाता है। ऐसे कर्मों का आत्मा के साथ बहुत गाढ़ा सम्बन्ध होता है और उनका उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा आदि कुछ भी नहीं होता। निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के आधीन होता है। दलिक कर्म जिन्हे सोप क्रम भी कहते हैं यह उपचार साध्य है। उनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। दलित कर्मों की

अपेक्षा दोनों पक्ष हैं। जहां जीव उनको अन्यथा करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता, वहां जीव उन कर्मों के आधीन हो जाता है और जहां जीव अपने प्रबल धृति, मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है वहां कर्म जीव के आधीन होता है। इस तरह जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है। जहां जीव के काल आदि अवस्थाओं में लब्धियों की अनुकूलता होती है, वह कर्मों को परास्त कर देता है और जब जीव के कर्मों की बहुलता होती है तब जीव लब्धियों से दब जाता है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि कभी जीव कर्म के आधीन होता है और कभी कर्म जीव के आधीन।

इस प्रकार कर्मों की और भी अवस्थाएं हो सकती हैं, पर यहां दस अवस्थाओं की चर्चा की गई है।

संकल्प शक्ति का महत्व

शुभ व अशुभ कर्म निमित्त कारणों में परिवर्तन तो ला देते हैं किन्तु मन का संकल्प इन निमित्तों में सब से बड़ा निमित्त कारण है। इससे जितना परिवर्तन संभव है उतना किसी और निमित्त से नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपने निश्चय में एकनिष्ठ होता है उसके लिए कठिन से कठिन कार्य भी सरल बन जाता है।

संकल्प में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति की सभी शक्तियां निहित हैं। संकल्प एक कल्प वृक्ष है जिसकी साधना से व्यक्ति अनन्त आनन्द को प्राप्त कर सकता है। दृढ़ संकल्पी महाराणा प्रताप मुगलों को चुनौती हेतु कई वर्षों तक जंगल में भूखे-प्यासे घूमते रहे। संकल्प बिना श्रद्धा के नहीं हो सकता। श्रद्धा के अभाव में संकल्प में दृढ़ता नहीं आ सकती। यहां

संकल्प की पृष्ठ भूमि है, मेरु दण्ड है, किसी भी मंजिल का प्रथम सोपान है। जहाँ श्रद्धा है, वहाँ सिद्धि है। किसी कार्य की सिद्धि के लिए पहली शर्त है श्रद्धा। जितना विश्वास बढ़ता है, उतनी सिद्धि की आशा बढ़ती है। विश्वास के आधार पर संकल्प में दृढ़ता आती है। महात्मा गाँधी का कथन है, "संकल्प से व्यक्ति अपने भाग्य को बना सकता है व दिव्य ज्योति को प्रज्वलित कर सकता है।"

भगवान बुद्ध के एक शिष्य ने एक बहुत बड़ी तथा कठिन चट्टान को देखकर भगवान से पूछा—"भगवन्! इस चट्टान पर भी कोई शासन कर सकता है?"

बुद्ध ने कहा,—"लोहा इस चट्टान को खंड खंड कर सकता है। अतः चट्टान से लोहा श्रेष्ठ है।"

शिष्य ने पूछा,—"लोहे से श्रेष्ठ क्या है?"

बुद्ध ने बताया—"आग लोहे के अभिमान को पिघला देती है।"

शिष्य ने पुनः जिज्ञासा की,—"आग से बढ़कर क्या होगा?"

बुद्ध बोले–"आग से पानी श्रेष्ठ है क्योंकि वह आग को बुझा देता है।"

शिष्य का कौतुहल बढ़ा और उसने निवेदन किया,–"भगवन्! पानी पर भी कोई प्रभाव जमा सकता है?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"पानी के ऊपर वायु है। वायु का प्रवाह पानी की गति को बदल देता है। वायु ही प्राण संचालक है।"

शिष्य ने फिर जानना चाहा,–"वायु से भी श्रेष्ठ कोई है ?"

बुद्ध ने मुस्कान के साथ कहा—"वायु को भी वश में करने वाली मनुष्य की संकल्प शक्ति है जो सब पर शासन करती है।"

जब तक हमारी संकल्प शक्ति दृढ़ नहीं होती हमारा अध्यवसाय भी दृढ़ नहीं होता और प्रायः हमारी गति में अवरोध आ जाता है। जो काम संभव है वह भी असंभव बन जाता है। यदि हमारे जीवन में संकल्प शक्ति जागृत हो जाती है तो हमारे लिए कठिनाइयों के पहाड़ को पार करना कोई बड़ी बात नहीं और नहीं प्रयत्न से असंभव कार्य भी संभव बन जाता है। संकल्प शक्ति को जगाने के लिए संयम को अपनाना आवश्यक है।

एक समय गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा,— "भंते ! संयम (Self-control) से जीव क्या प्राप्त करता है ?"

भगवान महावीर ने कहा–"संयम से जीव आस्रव का निरोध करता है। संयम रखने का परिणाम होता है अनास्रव।"

जिस व्यक्ति में संयम की शक्ति विकसित हो जाती है उसमें विजातीय द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता और वह बाहरी दुष्प्रभावों से प्रभावित नहीं होता।

संयमी बनने के लिए यह आवश्यक है कि हम सब काम ठीक समय पर करें। भोजन के समय हम भोजन करें, सोने के समय हम सोएँ। अगर हम हमेशा प्रातः काल ध्यान करते हैं तो प्रति दिन उसी समय और उसी प्रकार ध्यान करें। यदि हम मन की किसी अन्य मांग को स्वीकार नहीं करेंगे तो हमारी संकल्प शक्ति प्रबल हो सकती है। संयमी बनना या न बनना हमारे स्वयं

शक्ति की दृढ़ता या शिथिलता पर निर्भर करता है। यदि नियम पूर्वक संयम अपनाया जाय तो कर्मों के उदय में भी परिवर्तन लाया जा सकता है यानि तीव्र परिणाम वाले कर्मों को मन्द परिणाम वाले कर्मों में परिवर्तन किया जा सकता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव व शत्रुवत: ॥

जिसने अपने मन को जीत लिया है उसके लिए उसका मन सबसे अच्छा मित्र है। परन्तु जो ऐसा करने में असफल हुआ है उसके लिए वही मन सब से बड़ा शत्रु है। जिस व्यक्ति का अपने मन पर नियंत्रण है उसकी संकल्प शक्ति दृढ़ होनी ही चाहिये।

संदर्भ :—

साधवी कंचन कुमारी "सकल्प" : प्रेक्षाध्यान फरवरी १९८२ पेज १२

कर्म-सिद्धान्त की व्यवहारिक प्रामाणिकता

इस चैतन्य जगत में बहुत विविधता है और इसका एक प्रमुख निमित्त है कर्म। यदि कर्म-परमाणु नहीं होते तो जीव के साथ कर्मों का बन्धन नहीं होता और ये विविधताएं जैसे कोई धनवान होना, कोई गरीब होना, कोई रोगी होना, कोई निरोगी होना, कोई सुखी होना, कोई दुखी होना, नहीं होती। सब कुछ समान ही होता। किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं होता। इस संसार का विभाजन होना कर्मों के अस्तित्व का बहुत बड़ा प्रमाण है।

मनुष्य कर्मों से बंधा है इसलिए उसमें रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम होते हैं और ऐसे परिणाम भी कर्मों के अस्तित्व का प्रमाण है। कर्म-बन्धन चैतन्य का मूल स्वभाव नहीं है। यह स्वभाव का अतिक्रमण है। स्वभाव के विरुद्ध जो कुछ काम किया जाता है उसका प्रेरक तत्त्व कर्म है।

जीव में चंचलता का होना भी कर्मों के अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण है। जीव में सक्रियता तो होती है क्योंकि यह जीव का मूल लक्षण है। चंचलता जीव का मूल लक्षण नहीं है इसलिए इसका होना कर्मों का अस्तित्व है। कर्म है इसलिए यह शरीर है और शरीर है इसके लिए शरीर के साथ-साथ मन और वाणी में भी चंचलता है।

पुद्गल और जीव का जो परस्पर सम्बन्ध है वह भी कर्मों के कारण है। जीव मे जो राग-द्वेषात्मक परिणाम है वे पुद्गल को सहयोग देते हैं और पुद्गल राग-द्वेषात्मक परिणाम को सहयोग देते हैं। जीव का इस तरह पुद्गलों से प्रभावित होना इस बात का द्योतक है कि कर्मों का अस्तित्व है।

कर्मों के कारण ही एक व्यक्ति स्वामी बनता है और दूसरा सेवक। इस विषमता का कारण उसका शुभ और अशुभ कर्म ही है। कर्म किसी भी प्राणी को नहीं छोड़ते। उदाहरणार्थ मर्यादा पुरुषोत्तम राम को एक ओर से तो राज्याभिषेक का प्रस्ताव आया और दूसरी ओर से चौदह वर्ष का वनवास का प्रस्ताव। अनुकूलता एवं प्रतिकूलता यह सब कर्मों की गति के आधीन है। समता और विषमता जो इस जगत में दिखाई देती है वह सब कर्मों के कारण है। हम देखते है कि कहीं अत्यन्त सम्पन्नता है तो कहीं सीमातीत विपन्नता है; कहीं ऐश्वर्य मर्यादितता

फर रहा है तो कहीं दरिद्रता मासूम बच्चों के प्राण नोच रही है; कहीं बेशुमार पकवान सड़ रहे है तो कहीं क्षुधा से पीड़ित प्राणी मर रहा है। कहीं ऊंचा सिर किये हुए गगन चुम्बी अट्टालिकाएं खड़ी मुस्कुरा रही है तो कहीं टूटी-फूटी झोंपड़ियां सिसकियां भर रही हैं। कहीं सुन्दरता मद में झूम रही है तो कहीं कुरूपता औंधे मुँह पड़ी तड़प रही है। यह सब कर्म सत्ता के वैचित्र्य को प्रमाणित करती है। इस विचित्रता और उसके कारण का बड़ा ही गंभीर और तलस्पर्शी वर्णन तेरापंथ सम्प्रदाय के आद्याचार्य संत भिक्षु ने चन्द भावपूर्ण सोरठों में किया है जो इस प्रकार है :—

एक नर पंडित प्रवीण रे, एक ने आखर न चढ़े।
एक नर मूर्ख दीन रे, भाग विना भटकत फिरे ॥१॥
एकण रे भरिया भंडार रे, ऋध सम्पत घर में घणी।
एकण रे नहीं लिगार रे, दीधा सो ही पाइये ॥२॥
एकण रे आभूषण अनेक रे, गहणा विविध प्रकार ना।
एकण रे नहीं एक रे, वस्त्र बिना नागो फिरे ॥३॥
एक नर जीमें कूर रे, सीरो पूरी लापसी।
एकण रे नहीं बूर रे. भीख मांगत भटकत फिरे ॥४॥
एक नर पोढ़ें खाट रे, सेज बिछाई ऊपरे।
एक नर ढूंढे हाट रे, आदर मान किहां नहीं ॥५॥
एक नर हय असवार रे, चढ़े हस्ती ने पालखी।
एकण रे सिर भार रे, गांव गांव भटकत फिरे ॥६॥
एकण रे रहे हजूर रे, हाथ जोड़ हाजर रहे।
एक नर ने कहे दूर रे, निजर मेलें नहीं तेहस्यूं ॥७॥
एक नर सुन्दर रूप रे, गमतो लागे सकल ने।
एकज कालो कुरूप रे, गमतो न लागे केहने ॥८॥
एक बालक विधवा नार रे, रात दिवस झूरे घणी।

कर रहा है तो कहीं दरिद्रता मासूम बच्चों के प्राण नोच रही है; कहीं बेशुमार पकवान सड़ रहे हैं तो कहीं क्षुधा से पीड़ित प्राणी मर रहा है। कहीं ऊंचा सिर किये हुए गगन चुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी मुस्कुरा रही है तो कहीं टूटी-फूटी झौंपड़ियाँ सिसकियां भर रही है। कहीं सुन्दरता मद में झूम रही है तो कहीं कुरूपता औंधे मुँह पड़ी तड़प रही है। यह सब कर्म सत्ता के वैचित्र्य को प्रमाणित करती है। इस विचित्रता और उसके कारण का बड़ा ही गंभीर और तलस्पर्शी वर्णन तेरापंथ संप्रदाय के आद्याचार्य संत भिक्षु ने चन्द भावपूर्ण सोरठों में किया है जो इस प्रकार है :—

एक नर पंडित प्रवीण रे, एक ने आखर न चढ़े।
एक नर मूर्ख दीन रे, भाग बिना भटकत फिरे ॥१॥
एकण रे भरिया भंडार रे, ऋध सम्पत घर में घणी।
एकण रे नहीं लिगार रे, दीधा सो ही पाइये ॥२॥
एकण रे आभूषण अनेक रे, गहणा विविध प्रकार ना।
एकण रे नहीं एक रे, वस्त्र बिना नागो फिरे ॥३॥
एक नर जीमें कूर रे, सीरो पूरी लापसी।
एकण रे नहीं बूर रे, भीख मांगत भटकत फिरे ॥४॥
एक नर पोढ़े खाट रे, सेज बिछाई ऊपरे।
एक नर ढूंढ़े हाट रे, आदर मान किहाँ नहीं ॥५॥
एक नर हय असवार रे, चढ़े हस्ती ने पालखी।
एकण रे सिर भार रे, गांव गांव भटकत फिरे ॥६॥
एकण रे रहे हजूर रे, हाथ जोड़ हाजर रहे।
एक नर ने कहे दूर रे, निजर मेलें नहीं तेहस्यूं ॥७॥
एक नर सुन्दर रूप रे, गमतो लागे सकल ने।
एकज कालो कुरूप रे, गमतो न लागे केहने ॥८॥
एक बालक विधवा नार रे, रात दिवस झूरे घणी।

एक सभ सोले सिरणगार रे, रत रत ना फल भोगवे ॥९॥
एक नर छत्र धराय रे, आरण मनावे देश में ।
एक नर अलाणें पाय रे, फिरे घर घर टुकड़ा मांगतो ॥१०
एक बैस सिंघासन पाट रे, हुकम चलावे लोक में ।
एक फिरेज हाटो हाट रे, एक कोडी रे कारणे ॥११
एक नर निरमल देह रे, एक ने रोग पीड़ा घणी ।
किसो कीजे अहमेव रे, किया सोई पाइये ॥१२
एक सारे निज काज रे, संजम मारग आदरे ।
एकज विलसे राज रे, काज विगाड़े आपरो ॥१३
एक रमैं नर नार रे, मद मांस तणो भक्षण करे ।
त्यारें दया न दिसैं लिगार रे, ते मुख पावे किरण विधे ॥१४॥
एक नर पालें शील रे, साध तणी सेवा करे ।
पावे अविचल लील रे मोख तणा मुख सासता ॥१५॥
निरफल रूंखज होय रे, निरफल हो ज्यावे असतरी ।
सुणज्यो भवियण लोय रे, करणी कदे निरफल नहीं ॥१६॥

मनुष्य जैसा करता है वैसा ही पाता है । रूख-वृक्ष निष्फल हो सकता है, स्त्री निष्फल हो सकती है पर हे भविजन ! करणी-धर्म-क्रिया कभी निष्फल नहीं होती ।

जोधपुर में जन्मे शाह मोहनराज रचित "चकरिये की सहक" में कुछ सोरठे कर्मों की विचित्रता को प्रकट करते हैं, वे इस प्रकार हैं:—

> सब रे होत समान, नाक, कान, कर, पद, नयन ।
> पावत भाग्य प्रमान, चिणा, चूरमा, चकरिया ॥
> घर रह, रह घर आग, करने उद्यम शोह विध ।
> कुछ भी सरे न काम, चोखा दिन बिन चकरिया ॥

राखै जिण विध राम, राजी हुय उण विध रहो ।
कोई सरै न काम, चींचायाँ सु चकरिया ।।
हरि चिन्तै सो होय, नर चिन्त्या होवै नही ।
रह्यौ दुशासन रोय, चीर घट्यौ नहीं चकरिया ।।
भूँडो अपणो भाग, सब चोखा संसार में ।
राखे न किणसुँ राग, चूक करम में चकरिया ।।
भाग्य लिख्योड़ा भोग, भला बुरा सब भोग ।
झूठा हुवै न जोग, चतुरानन रा चकरिया ।।
माँगी मिलै न मौत, माल मिलै किम माँगियाँ ।
निज करमाँ री नौत, चूक किण री चकरिया ।।
वीती करो न वात, आशा करो न आगली ।
होणी हरि रै हाथ, चोखी भूँडी चकरिया ।।

दो व्यक्तियों के समान साधन, समान परिस्थितियाँ होने एवं समान परिश्रम करने के उपरान्त भी एक व्यक्ति को इच्छित फल की प्राप्ति शीघ्र एवं सुगम रूप से हो जाती है परन्तु दूसरे व्यक्ति को ध्येय की प्राप्ति इतनी सरलतापूर्वक नहीं होती । इसका क्या कारण है ? स्पष्टतया इस प्रकार की फल प्राप्ति की विषमता में कोई वस्तु निमित्त है जो बाधक बन रही है । इस वैषम्य का निमित्त कर्म-बन्धन हो सकता है ।

किसी स्थान पर चाहे कितना ही गहन अंधकार क्यों न हो, यदि छोटी सी प्रकाश की रेखा उस स्थान पर प्रकट हो जाती है तो वह अन्धकार लुप्त हो जाता है—प्रकाश के सम्मुख टिक नहीं सकता । ठीक यही बात कर्मों के प्रभाव के सम्बन्ध में भी लागू होती है । कर्मों के उदयकाल की भीषणता कितनी ही प्रबल हो यदि उस जीव के भीतर चैतन्य जागृत हो गया है, आत्मा की स्वानुभूति

को प्रबलता है तो इन कर्मों के विषादपूर्ण प्रभाव का कुछ भी जोर नहीं चलेगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्मों की प्रबलता ही सर्वोपरी नहीं है उसके बन्धन को विच्छेद करने वाली भी सत्ता है और वह है जीव में आत्म-ज्योति जिसके प्रकट होते ही कर्म-बन्धन रूपी समस्त अन्धकार समाप्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की ज्योति को अनुभव करना जीव के लिए बहुत कठिन कार्य है क्योंकि वह अज्ञान के अन्धकार में डूबा हुआ है। यहां भाविक के पुरुषार्थी होने की बात सामने आती है। कर्मों की प्रबलता से निश्चित तौर पर हमारे ध्येय की प्राप्ति में बाधा पड़ती है परन्तु यदि हमारा पुरुषार्थ प्रबल है, परिश्रम अथक है, साधना शक्तिशाली है तो कर्मों की प्रबलता क्षीण होगी, अज्ञान रूपी अन्धकार दूर होगा और आत्म-ज्योति स्वतः प्रकट होगी। इस प्रकार भाविक के पुरुषार्थी होने पर कर्मों का भयावना बन्धन ढीला पड़ जाता है।

संदर्भ :—

श्रीचन्द रामपुरिया–"आदर्श भिक्षु जीवन कथा और व्यक्तित्व"
शाह मोहनराज–"पर्कोरिये की परख"

कर्म, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

कर्म, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का परस्पर सम्बन्ध है और वह अविच्छेद्य है । अपने पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति को वर्तमान में सुख दुख की अवस्था में से होकर गुजरना पड़ता है । अपने पूर्व पुण्य कर्म फल के कारण ही व्यक्ति को तीर्थंकर, चक्रवर्ती, सम्राट, राष्ट्रपति आदि उच्च पद प्राप्त होता है । यह एक निर्विवाद सत्य है कि जब तक मनुष्य में कषाय का अस्तित्व रहता है तब तक जन्म और मृत्यु की श्रृंखला का अन्त नहीं होता । कषायों के पूर्णतया समाप्त होने पर ही आत्मा कर्मों से मुक्त होती है और जन्म-मरण से छुटकारा मिलता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म भी प्राणी में कार्मण संस्कारों का संयोग होने से होता है । हम देखते हैं कि पूर्व-जन्म में संचित संस्कारों की स्मृति के कारण ही नवजात शिशु कभी हर्षित होता है, कभी भयभीत हो उठता है, तो कभी शोक विह्वल हो जाता है । इस प्रकार की भिन्न भिन्न स्थितियां, जो प्राणी की आत्मा से सम्बन्धित है, उसके पुनर्जन्म और पूर्वजन्म सम्बन्धी क्रियाओं के कारण घटित होती हैं । ऐसी क्रियाओं का घटित होना पुनर्जन्म के सिद्धान्त का द्योतक है । साथ ही आत्मा का शरीर से पृथक होने का तथ्य भी प्रकट करता है ।

पुनर्जन्म के निश्चित सिद्धान्त के कारण ही मनुष्य को मृत्यु का भय लगा रहता है । इसका कारण है भविष्य के प्रति अनिश्चितता कि अगले जन्म में न जाने उसे किन किन परिस्थितियों में जीवन बिताना पड़े । इस जन्म में यदि परिस्थितियां सुखद हैं, साधन व सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं तो यह आशंका

सताने लगती हैं कि पता नहीं अगले जन्म में भी वैसे ही साधन व सुविधाएं मिलेगी अथवा नहीं। यदि कोई मनुष्य दुःखद परिस्थितियों में रह रहा है तो वह यह सोचता है कि न मालूम कहीं अगले जन्म में उसे उससे भी बुरी स्थिति में न रहना पड़े। यद्यपि कर्म फल के सिद्धान्त का स्वरूप अटल और ध्रुव सत्य है, फिर भी लोग इस बात का निर्णय नहीं कर पाते कि कौन से कर्म का किस समय अच्छा फल मिलेगा और कौन से कर्म का किस समय बुरा फल मिलेगा। इसलिए साधारणतया इस प्रकार का भय मनुष्य को मरणोत्तर जीवन के प्रति सशंकित करता रहता है।

भारतीय संस्कृति में पला व्यक्ति यह मानता है कि व्यक्ति के जीवन पर कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ता है। कर्म के द्वारा उसका कर्त्तव्य बोध कराया गया है। जो जिस स्थिति में है उसमें वह अपने कर्त्तव्य को निभाता रहे यही उसका कर्म है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त से यह बोध कराया गया है कि इस जन्म में जो प्राप्त होना रह गया वह कहीं आगे मिल सकता है और आगे यह बताया गया है कि मोक्ष का सैद्धान्तिक अर्थ व्यक्ति के जीवन को परम सन्तुष्ट और इच्छा आकांक्षाओं से शून्य बनाने में है।

धार्मिक ग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि पुनर्जन्म में विश्वास करने वाला व्यक्ति ऐहिक जीवन के लिए अनर्थ हिंसा, विलासिता आदि दुष्प्रवृत्तियों में आसक्त नहीं होता। वह कम से कम हिंसा और अल्प परिग्रह से अपना जीवन निर्वाह कर लेता है। अध्यात्मवाद की भित्ति पर टिकी हुई सामाजिक और राजनैतिक प्रणाली में अर्थ-लोलुपता और पर-शोषण नहीं होता, ऐसे लक्षण उस व्यक्ति के जीवन में पाये जाते हैं।

पाँच तरह के वैषम्य साधारणतया हरेक प्राणी में पाये जाते हैं:—व्यवस्था वैषम्य, स्वास्थ्य वैषम्य, ज्ञान वैषम्य, आयु वैषम्य और ऐश्वर्य वैषम्य।

कोई प्राणी मनुष्य है, कोई पशु और कोई पक्षी. यह व्यवस्था वैषम्य है। कोई प्राणी सुखी है और कोई दुखी यह स्वास्थ्य वैषम्य है। एक व्यक्ति विद्वान है और दूसरा निरक्षर यह ज्ञान वैषम्य है। एक प्राणी किशोरावस्था तक ही नहीं पहुंच जाता पहले ही चल बसता है इससे भिन्न दूसरा व्यक्ति अस्सी वर्ष की अवस्था तक पहुँच जाता है यह आयु वैषम्य है। एक व्यक्ति लाखों करोड़ों व्यक्तियों पर शासन करता है, दूसरा जन जन का मोहताज है। एक धनी है दूसरा गरीब है यह ऐश्वर्य वैषम्य है। पूर्व जन्म व पुनर्जन्म के सदर्भ में जानने योग्य ये तथ्य हैं।

'पद्म भूषण' से सम्मानित फादर बाबा कामिल बुल्के का जीवन प्रसंग उस सम्बन्ध में बहुत उपयोगी है। उनके बारे में लिखा गया है कि बी. एस. सी. की परीक्षा समाप्त होने के पहले ही बेल्जियम में जन्मे युवक कामिल ने सन्यास लेने का निश्चय कर लिया था। कई वर्ष पूर्व उनके पड़ोस में एक लड़की की मृत्यु हो गई थी। माँ ने अन्तिम संस्कार में किशोर पुत्र कामिल को आग्रह पूर्वक भेजा था। पड़ोस की बात थी और वहीं उसी क्षण संसार की असारता मे प्रथम साक्षातकार कामिल को हुआ था। सन्यास के बीज मन की कोमल धरती पर वहीं पड़े। उसके कई वर्ष पश्चात उन्होंने अन्तः चक्षुओं मे एक दिव्य ज्योति के दर्शन किये। सन्यास का निश्चय निर्णय बन गया। इन्जीनियर युवक धर्म पुरोहित बनने को ललक उठा। वैसे कुछ पूर्व जन्म के संस्कार भी थे। उन्हीं के शब्दों में "मैंने कभी स्त्री प्रसंग नहीं किया, विवाह का ध्यान ही नहीं आया,

स्वेच्छा से समर्पित होना इतना कठिन नहीं यदि मन में समर्पण का भाव विद्यमान हो। विश्व विद्यालय में चार हजार विद्यार्थी थे। वेश्यालय भी थे। मैं कभी नहीं गया, नग्न चित्र भी नहीं देखे, समय ही नहीं था। सेक्स की फिल्म कभी नहीं देखी। समुद्र के किनारे अल्प वस्त्रों में स्त्री को देखकर भी मन में दुर्भाव नहीं आया। सेक्स अनिवार्य है, मैं नहीं मानता। भूख प्यास की तरह काम वासना सच नहीं है...."तन आधार सब सृष्टि भवानी" इस धारणा के अनुसार व्यवहार करना चाहिये।

फादर बुल्के सुदर्शन और भव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे। अपने सौन्दर्य पर बच्चों का सा मान था उन्हें। वे कहते थे सुन्दर वास्तव में वही है, जो बुढ़ापे में सुन्दर लगे क्योंकि तब शरीर तो नहीं, मन की सुन्दरता चेहरे पर आती है। उन्होंने १९५० में 'रामकथा का उद्भव और विकास" पर पी. एच. डी. की उपाधि ली थी।

पूर्वजन्म के सिद्धान्त में सत्यता की पुष्टि में पं० मिलापचंद टाटिया का लेख "जीव तत्त्व विवेचन" में यह प्रश्नोत्तर बहुत उपयोगी है :—

प्रश्न:—यदि प्रत्येक शरीर में जीव भवांतर से आता है तो उसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर में जो जीव है वही पूर्वजन्म के शरीर में था। शरीर बदला है जीव तो वही का वही है तो फिर सभी जीवों को पूर्वजन्म की बातें याद क्यों नहीं है ?

उत्तर:—जैसे वृद्धावस्था में किन्हीं को अपनी बाल्य अवस्था की बातें याद रहती है और किन्हीं को नहीं रहती है इसी प्रकार

किसी जीव को भवान्तर की बातें याद आ जाती हैं, किसी को नहीं। इसमें कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है। दूसरी बात यह है कि जिन बातों पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती है और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो वे निकट भूत की भी स्मरण में नहीं रहती हैं। मनुष्य को अपना गर्भावस्था का स्मरण इसीलिए नहीं रहता कि वहाँ उसको किसी विषय पर गम्भीरतापूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नहीं होता है। इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोड कर अगले शरीर को धारण करने में प्रथम तो बीच में व्यवधान पड़ जाता है। दूसरे अगला शरीर पूर्व शरीर से भिन्न प्रकार का होता है और उसके विकसित होने में भी समय लगता है। चूंकि जीव की ज्ञानोत्पत्ति में शरीर और इन्द्रियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यदि पूर्वजन्म में जीव असंज्ञी रहा हो तो वहां किसी विषय का चिंतन ही न हो सका, अतएव अगले जन्म में याद आने का प्रश्न ही नहीं रहता है। इन कारणों में प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण ज्ञान का होना सुलभ नहीं है।

"पुनर्जन्म तथा जन्म निरोध" लेख में श्री मंगल विहारी (अवकाश प्राप्त प्रशासन सेवा अधिकारी) लिखते हैं :—

"भारतीय दार्शनिक परम्पराओं एवं अवस्थाओं के संदर्भ में पुनर्जन्म के विषय पर अत्यन्त अल्प मंथन हुआ दिखता है। हम लोग कर्म विज्ञान व पुनजन्म में दृढ़ विश्वास करते हैं। हमारे शास्त्रों में मनुष्य जन्म को सुर-दुर्लभ माना है। चौरासी लाख योनियों में घूमता घूमता जीव मनुष्य जन्म पाता है। तथा मनुष्य योनि में भी यदि वह सत्कर्म नहीं करता तो पुनः कूकर-शूकर

योनि मे पतित हो जाता है। अन्य योनियों में सत्कर्म या कुकर्म नहीं होते, केवल फल भोग होता है। सड़क की नाली में से खाद्य खोजता श्वान तथा रईस के घर ऐश करता अल्सेशियन सुख दुख भोगने की दृष्टि से भिन्न है पर उनके गुण व कर्मों की समान श्रेणी है। कोई भी सत्कूकर या दुर्कूकर नहीं होता। दूसरी ओर मनुष्य की क्रियाओं में धर्म तथा नैतिकता के आधार पर गुण विभाजन होता है। जैन धर्मावलम्बी यह भी मानते है कि आत्माओं अथवा जीवों की संख्या निर्धारित एवं स्थिर है। ऐसा नहीं होता कि आज तो सृष्टि पर दो खरब जीव है और सौ वर्ष बाद वे संख्या मे घट या बढ़ जाय। गिनती के लिए केवल समस्त योनियों की संख्या का जोड़ सही करना होगा।"

श्री मंगल विहारी आगे लिखते हैं, "जीव को चौरासी लाख योनियों में घूमने में कितना समय न्यूनतम रूप से लगता है इसका भी कहीं हिसाब नहीं है, पर हमारे यहां दशावतार का जो सिद्धान्त है उसके आधार पर मोटे रूप में तीन साढ़े तीन हजार वर्ष का समय आंका जा सकता है। दशावतार की पौराणिक गाथाएं जीव के विकास की सीढ़ियों के रूप में है। पहले पहल मत्स्यावतार जलमय सृष्टि में जीवन के प्रथम स्फुरण का द्योतक है फिर शनैः शनैः अनेक रूपों में होता हुआ जीव नरसिंह रूप में आता है जहां वह अर्द्ध पशु तथा अर्द्ध मानव का का रूप है"।

"मरते समय मनुष्य की सारी अतृप्त वासनाएं एवं अफलीभूत कर्म उसके अगले जीवन के संस्कार बीज बनते है। ये मृत आत्माएं अपनी अन्दरूनी व्यथा के कारण शीघ्र अनुकूल जगह जन्म लेना चाहती है। अर्थात् मृतात्मा काम व स्थान से

बाधित नहीं होती तथापि अनुकूल वातावरण में जन्म पर प्रतिबन्ध होने से ये उस वायुमंडल में तड़प कर घूम सकती है। इनकी इस तड़पन का अक्षत प्रभाव मानव समाज की मानसिकता पर तथा विशेषत: उस परिवार की मानसिकता पर पड़ सकता है, जो जान बूझकर अपने यहां आगे जन्म नहीं होने देना चाहता। उसका भौतिक वातावरण ऐश्वर्यमय हो सकता है, पर उसकी मानसिकता इस मृतात्मा की तड़फन से अवश्य प्रभावित हो सकती है। आज के युग के स्नायु व मानसिक रोगों का सभवत: यही अपरिचित प्रबल कारण है।"

सदर्भ :– १. मगल विहारी–"पुनर्जन्म तथा जन्म निरोध"-राजस्थान पत्रिका १२-४-८३

२. शैल सक्सेना-"बाबा कामिल बुल्के का जीवन प्रसंग" साप्ताहिक हिन्दुस्तान १२-६ ८२ से १८-६-८२

३. अखंड ज्योति-जून १६८०

४. मिलाप चंद टाटिया, "जीव तत्व विवेचन," मुनि श्री हजारीमल ग्रन्थ

कर्म-सिद्धान्त एवं व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ

प्रश्न उठता है—हमारे जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं क्या वे केवल हमारे पूर्व-जन्म के उपार्जित कर्मों के विपाक का ही फल है या उन पर वर्तमान जीवन के हमारे अच्छे या बुरे आचरण का भी असर पड़ता है ? यह एक गम्भीर प्रश्न है जिसका समाधान आवश्यक है, उदाहरणतः जैसे कोई व्यक्ति दूसरे से असत्य बात कहता है, कोई व्यक्ति किसी प्रकार की चोरी करता है, कोई व्यक्ति दूसरे के माल को हड़प जाता है या उस पर डाका डालता है तो क्या इन सब प्रवृत्तियों में इस प्रकार के व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दोष नहीं छिपा है ? क्या उसके इस आचरण को पूर्ववर्ती कर्मों का परिणाम ही समझा जाय जिनके कारण उसे ऐसे घृणित कार्य करने पड़े। एक व्यक्ति ने किसी अन्य व्यक्ति पर प्रहार किया और प्रहार करके उसे समझाने की चेष्टा की कि भाई ! तुम्हारे साथ इस प्रकार का मेरा आचरण तुम्हारे पूर्वार्जित अशुभ कर्मों का ही फल है। तुम्हारे किये हुए कर्मों का ऐसा ही संयोग है। मैं क्या कर सकता हूँ ? ऐसा कह कर क्या प्रहार करनेवाला व्यक्ति अपने किये हुए अपराध से दोष मुक्त हो सकता है ? यदि पूर्वकृत कर्मों के उदय के कारण ही व्यक्ति ऐसे अपराध या अन्य दूसरी क्रियाएँ करता है तो फिर वह इस प्रकार के अपराध का दोषी कैसे ? परन्तु अगर हम इसे सही रूप में समझने की कोशिश करें तो मालूम होगा कि वास्तव में यह सारा भ्रम है। प्रायः हर अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है या अपने किये अपराध के परिणाम से बच निकलने का प्रयास करता है। पूर्वकृत कर्मों पर विश्वास करने वाला अपने आप को निर्दोष मानता है। वह समझता है

कि उसने स्वयं कुछ भी नहीं किया। जैसा पिछले किए हुए कर्म उससे करवाता है वैसा ही व्यक्ति को करना ही पड़ता है। परन्तु यह धारणा भी कुछ अंश तक सही नहीं है। व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है, स्वयं का व्यवहार भी है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं जो पहले के कर्मों से नियंत्रित नही होती। कर्म पक्ष की अपेक्षा इनमें हमारा व्यवहार पक्ष अधिक काम करता है। ऐसे अनेक उदाहरण धार्मिक ग्रन्थों में है। स्थानांग सूत्र में रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाये है। वे इसी कोटि में आते है:—

१. निरन्तर बैठे रहना।
२. अहितकर भोजन करना व अति भोजन करना।
३. अति निद्रा।
४. अति जागरण।
५. मल का निरोध करना।
६. प्रसव का निरोध करना।
७. पंथ गमन।
८. भोजन की प्रतिकूलता।
९. काम विकार।

उपर्युक्त कारणों से रोग की उत्पत्ति हो सकती है इनमें एक भी कारण ऐसा नहीं है जिसे हम पूर्व-कृत कर्म का फल कह सकें। भोजन करना, नींद लेना और जागरण करना आदि ये सभी हमारे क्रिया पक्ष हैं। ये किसी भी कर्म के उदय के कारण नहीं हैं। कोई भी पूर्व-कृत कर्म इन पर प्रभाव नहीं डालता। ये लौकिक एवं दैनिक क्रियाओं के व्यावहारिक रूप है। पूर्व-कृत कर्म इस प्रकार की क्रियाओं के फल का घटक नहीं हो सकता क्योंकि इन क्रियाओं की फल प्राप्ति में व्यक्ति की स्वतंत्रता कार्य

करती है। जैसे हम अगर आहार, नींद या जागरण आदि क्रियाओं सम्बन्धी किसी प्रकार का अतिक्रमण करते हैं तो रोग होने की सम्भावना है। इसी प्रकार अकाल मृत्यु के भी शास्त्रों में सात कारण बतलाये गये हैं :—

१ राग, स्नेह, भय आदि की तीव्रता।
२. शस्त्र का प्रयोग।
३ आहार की न्यूनाधिकता।
४. आँख, कान आदि की तीव्रतम वेदना।
५. पराघात, गड्ढे आदि में गिरना।
६. सांप आदि का स्पर्श एवं दंशन।
७. प्राण-अपान वायु का निरोध।

कई प्रकार की आकस्मिक घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन में घटित होती हैं जैसे किसी व्यक्ति को सांप का अचानक डसने पर उसकी मृत्यु हो जाना या किसी शांत बैठे हुए व्यक्ति पर एकाएक भारी भरकम वस्तु के गिरने से उसकी मृत्यु हो जाना या किन्हीं दो चार मजदूरों का काम करते समय पत्थर या अन्य भारी वस्तु के ऊपर से गिरने से दब जाना या विमान दुर्घटना के कारण कई व्यक्तियों का एक साथ मर जाना आदि। इस प्रकार की घटनाओं का आधार क्या पूर्व जन्म कृत कार्यों या कर्म-फल ही समझा जा सकता है? नहीं, क्योंकि ये घटनाएं पूर्व-कृत कर्मों के कारण घटित नहीं होती।

रोग या मृत्यु का होना किसी विशेष कारण का परिणाम है। जैसे रोग का कारण अपथ्य भोजन। दूषित खाद्य या विष मिश्रित पदार्थ खाने से भी बीमारी हो सकती है। रोग होना अप्रत्यक्ष रुप से असाता वेदनीय कर्म के उदय का फल है। अहिंस-

कर भोजन एक घटना है, व्यक्ति की स्वतन्त्र क्रिया है और दूषित भोजन से रोग हो जाना कर्म संयोग से सम्बद्ध है। इधर उसके कर्मों को विपाक में आना था और उधर उसका दूषित भोजन खाकर रुग्ण होना था। रोग कर्म का निमित्त बन गया। उसी तरह विमान की दुर्घटना व्यक्ति के आयुष्य कर्म के कारण घटित नहीं हुई किन्तु विमान की दुर्घटना हुई इसलिये व्यक्ति के आयुष्य कर्म की उदीरणा हो गई। प्रश्न है क्या सैकड़ों व्यक्तियों का आयुष्य एक साथ समाप्त हो सकता है? हाँ, हो सकता है। आयुष्य कर्म के दो प्रकार हैं :- सोप क्रम आयुष्य कर्म और निरुप क्रम आयुष्य कर्म। कुछ आकस्मिक कारणों से आयुष्य कर्म में परिवर्तन हो सकता है वह सोप क्रम आयुष्य कर्म है। जहां कोई भी निमित्त कारण नही होता, व्यक्ति इतना शक्तिशाली होता है कि निमित्त का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता, वह ऊपर तैरता रहता है यह है निरुपक्रम आयुष्य कर्म। जैसे विमान दुर्घटना में या अन्य कोई ऐसी घटना में कभी कोई व्यक्ति बच जाता है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरीजी विरचित कर्म-ग्रन्थ में लिखा है कि देव, नारकी, चरमशरीरी जीव (उस शरीर से मोक्ष जाने वाले जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि तैसठ श्लाका पुरुष) जिनकी आयु असंख्य वर्षों की होती है ऐसे मनुष्य देव और तिर्यन्च की आयु अपरिवर्तनीय ही होती है। किसी व्यक्ति का जल में डूब कर मर जाना, किसी का आग से जल कर मर जाना, किसी के शस्त्र की चोट लग कर मर जाना, किसी का जहर खाकर मर जाना आदि मृत्यु के बाह्य निमित्त है। इन कारणों से मृत्यु होने पर व्यक्ति की शेष आयु जो कि पच्चीस या पचास वर्षों तक भोगी जा सकती थी उसे उसी अन्तर्मुहूर्त में भोगनी

पड़ती है। यह आयु का अपवर्तन है—इसे अकाल मृत्यु भी कहते हैं।

इसी तरह का एक दूसरा प्रश्न उठता है—हमारे जीवन में जो कुछ घटित होता है उसका कारण क्या पूर्व-कृत कर्म ही है या और भी शक्तियाँ काम करती हैं? हाँ, काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति, क्षेत्र और कर्म ये सब मिल कर ही किसी एक घटना को घटित होने में सहायक बनते हैं, अलग अलग रह कर कुछ नहीं कर सकते।

जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने एकान्त कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतवाद, पुरुषार्थवाद आदि की अलग अलग एकान्त मान्यता को मिथ्यावाद कहते हुए इन सब के समुदाय को ही कार्यसाधक माना है।

[1]कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं॥

गीताकार ने भी किसी भी कर्म की सिद्धि के लिए अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न भिन्न साधन व चेष्टाएँ तथा दैव ये पांच हेतु माने हैं।

जैन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में एक संवाद आता है वह इस प्रकार है :—

एक दिन भगवान महावीर अचानक सकडाल के पा पधारे। सकडाल मिट्टी के बर्तन बनाता था। महावीर सकडाल

[1]सन्मतितर्क प्रकरण तृतीय काण्ड-मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ जैन धर्म

के मिथ्यात्व को दूर करना चाहते थे। उमी उद्देश्य से पूछा,—"शकडाल! ये बर्तन कौन बनाता है?"

शकडाल,—"कोई नहीं बनाता। नियति से अपने आप बनते हैं।"

महावीर—"मानलो, एक व्यक्ति कंकर लेकर इन्हें फोड़ डालता है तो शकडाल! कौन फोड़ता है तेरी दृष्टि में?"

शकडाल असमंजस में पड़ गया। बात तो रहस्य की है। यदि फोड़नेवाला व्यक्ति है तो निर्माता भी व्यक्ति है फिर नियनि कहाँ रही? यह नियति बेकार है। उसी दिन से पुरुषार्थ और नियति की यथार्थता शकडाल के समझ में आ गई।

प्राय: यह कहा जाता है कि जो कुछ व्यक्ति के जीवन में घटता है वह पूर्व कृत-कर्म से ही होता है। यह भ्रांत धारणा है। सच तो यह है कि कुछ शक्ति काल में निहित है, कुछ स्वभाव में, कुछ नियति में कुछ क्षेत्र में और कुछ कर्म में एवं एक बड़ी शक्ति पुरुषार्थ में निहित है। पुरुषार्थ मे तो कर्म को बदलने की शक्ति है, ऐसी मान्यता है।

यदि केवल कर्म के प्रभाव के कारण ही सब कुछ संभव होता तो एक प्राणी जो अविकसित प्राणियों की श्रेणी में है वह वहाँ से निकल कर विकसित प्राणियों की श्रेणी में कभी नहीं आ सकता और कर्म के बन्धन को तोड़ कर कभी मुक्त नहीं हो पाता। इसलिये कर्म ही सब कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त भी अनेक तत्व ऐसे हैं जो अपनी-अपनी सीमा में कार्यकारी होते हैं। ह्रास से विकास की ओर बढ़ना, बन्धन से मुक्ति की ओर अग्रसर होना, आवरण को हटा कर अनावरण करना, अंधकार को दूर

कर प्रकाश की ओर जाना, परतन्त्रता का निवारण कर स्वतन्त्रता की ओर बढ़ना ये सब पुरुषार्थ के ही परिणाम हैं। काल मर्यादा, स्वभाव मर्यादा, पुरुषार्थ मर्यादा, क्षेत्र मर्यादा, और नियति मर्यादा का कर्मों के साथ सह अस्तित्व है। जिस व्यक्ति में काल, स्वभाव, नियति या भाग्य का योग अधिक होता है वह विचार में स्वतन्त्र होते हुए भी कार्य करने में परतन्त्र होता है। जिस व्यक्ति में पुरुषार्थ का योग अधिक होता है वह स्वभाव, काल, नियति आदि के योगों के नियंत्रण में परतंत्र होते हुए भी कार्य करने में स्वतंत्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतन्त्रता सापेक्ष ही होती है निरपेक्ष नहीं होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस संसार को सुदूर अतीत में ही अपनी इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने में स्वतंत्र नहीं होता तो वह संसार को कुछ भी नहीं बदल पाता। यह सच है कि मनुष्य ने संसार को बदला है परन्तु वह संसार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी में नहीं बदल पाया है। उसे ऐसा करने में समय लगा है। इन दोनों वास्तविकताओं में मनुष्य के पुरुषार्थ की सफलता और असफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। पुरुषार्थ से काल व भाग्य के योग को पृथक नहीं किया जा सकता किन्तु काल की अवधि में व भाग्य में परिवर्तन लाया जा सकता है।

इन सत्यों को हम इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कस सकते हैं। जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान विकसित होता गया वैसे वैसे मनुष्य में पुरुषार्थ की मात्रा बढ़ती गई। सभ्यता के प्रारम्भ युग में मनुष्य का ज्ञान अल्प था, बुद्धि अविकसित थी। प्रयोग किये जाने वाले उसके उपकरण भी अपरिष्कृत थे। प्रस्तर युग की तुलना में अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान एवं बुद्धि बहुत विकसित है।

कार्य संचालन के लिए उसके उपकरण शक्तिशाली हैं, जिनके कारण मनुष्य में पुरुषार्थ से कार्य करने की क्षमता बहुत बढ़ी है। आदिम युग का मानव केवल प्रकृति पर निर्भर रहता था; वर्षा होती तो खेती हो जाती अन्यथा नहीं। एक एकड़ भूमि में जितना अनाज उत्पन्न होता था उससे ही वह सन्तोष कर लेता, अधिक उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करता। अनाज के पकने मे अधिक समय लगता तो भी मनुष्य उस विलम्ब को सह लेता किन्तु वह अनाज को शीघ्र पकने के साधन ढूंढने का प्रयत्न भी नहीं करता। परन्तु आज का पुरुषार्थी मनुष्य केवल प्रकृति के साधनों पर ही निर्भर नहीं है, वह कृत्रिम साधनों का भी उपयोग करता है। उसने सिंचाई के स्रोतों का विकास कर फ़सल के लिये वर्षा पर निभर रहने की आदत में परिवर्तन किया है। रासायनिक खादों का निर्माण कर उसने अनाज के उत्पादन में अत्याधिक वृद्धि कर ली है और कृत्रिम उपायों का प्रयोग कर फसल के पकने की अवधि को भी उसने कम करने का प्रयत्न किया है। उसने संकर पद्धति द्वारा खेती करके अनाज को फसल के स्वभाव में भी परिवर्तन किया है। पुरुषार्थ के द्वारा काल की अवधि में परिवर्तन करने के और वस्तु के स्वभाव में परिवर्तन करने के सैकड़ों उदाहरण मानव जाति की सभ्यता के विकास के इतिहास में खोजे जा सकते हैं। एक पुरुषार्थी मानव भाग्य के ढांचे को बदल सकता है। वह अशुभ कर्मों के प्रभाव को शुभ कर्मों द्वारा नष्ट करके वांछित परिवर्तन ला सकता है।

काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरद हस्त प्राप्त नहीं है इसलिये वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते हैं। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरद हस्त प्राप्त है इसलिये वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है और इनको प्रभावित कर वतमान

को अतीत से भिन्न रूप में प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, संसार को अच्छा या बुरा बनाया जा सकता है क्योंकि यह पुरुषार्थ की सीमा के भीतर का कार्य है, परन्तु किसी द्रव्य के अस्तित्व को बनाना या बिगाड़ना मनुष्य के हाथ की बात नहीं क्योंकि वह मनुष्य की पुरुषार्थ की सीमा से परे है।

पुरुषार्थ के द्वारा सब कुछ किया जा सकता है, परन्तु नियति-निकाचित कर्म की भी अद्‌भुत शक्ति है।

> उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां।
> प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः॥
> विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां।
> तदपि न चलती यं भाविनी कर्म रेखा॥

चाहे सूर्य पश्चिम में उदय हो जाय, मेरु पर्वत चलायमान हो जाय, अग्नि शीतल हो जाय, पर्वत पर पद्म उग आवे परन्तु भावी-होनहार की जो कर्म रेखा है वह कभी टल नहीं सकती।

नियति के बल पर जो कुछ भी शुभ अथवा अशुभ होने वाला है, वह होकर ही रहेगा। प्राणी चाहे जितना भी बड़ा प्रयत्न क्यों न करे, जो कुछ नहीं होने वाला होगा नहीं होगा और जो होने वाला है उसका नाश भी नहीं हो सकेगा। जो भवितव्य नहीं है नहीं होगा और जो भवितव्य है वह बिना प्रयत्न के भी होगा। अनाज की फसल का फल पाने के लिए कितना ही प्रयत्न करें परन्तु नियति का निर्णय विपरीत हो तो कोई न कोई विघ्न आ जाता, टिड्डी, वर्षा का अभाव, अति वर्षा, महामारी, पैदा होकर उसकी फसल नष्ट करके

में निमित्त बन जाता है। नियति को घड़ने वाला तो पुरुषार्थ ही है परन्तु घड़ने के बाद नियति पूर्ण स्वतन्त्र है। नियति निकाचित बंध वाले कर्मों का समूह रूप है। जो कर्म अवश्य भोगना पड़े वह निकाचित कर्म है। जिस कार्य का फल तदनुकूल पुरुपार्थ के विपरीत दशा में गमन करे उसको नियति का कार्य मानना चाहिये। पुरुपार्थ सिर्फ नियति के सामने निष्फल होता है।

एक बार हमारे प्रधानमंत्री स्व पंडित जवाहरलाल नेहरू ने नियतिवाद और स्वतंत्र इच्छा शक्ति का तारतम्य बतलाते हुए लिखा था, "इस विश्व में नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छा शक्ति दोनों के लिए स्थान है। उदाहरण स्वरूप ब्रिज के खेल में प्रत्येक खिलाडी को जो ताश के पत्ते मिलते है, उसमें स्वतंत्र इच्छा शक्ति का कोई हाथ नहीं रहता किन्तु उन्हीं पत्तों की सहायता से अपनें अनुभव और बुद्धि कौशल द्वारा चतुर खिलाड़ी जो खेल खेलता है उसमें उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का पूरा योग है।"

· Rational Mysticeism के लेखक ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार किया है, "Individual man can modify the course of nature of the earth in many minor ways, but he cannot alter the course of nature as a whole, that is to say, those casmic happenings which are determined by a higher power, or by higher powers." अर्थात बहुत से छोटे-मोटे रूपों में तो व्यक्ति प्रकृति के कार्य व्यापार रूपान्तर उपस्थित कर सकता है किन्तु कुल मिलाकर वह प्रकृति की पद्धति को नहीं बदल सकता अर्थात् विश्व की जो घटनाएं किसी उच्चतर शक्ति या शक्तियों द्वारा नियत कर दी जाती हैं, उनमें परिवर्तन करना व्यक्ति के वश का रोग नहीं।

को अतीत से भिन्न रूप में प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, संसार को अच्छा या बुरा बनाया जा सकता है क्योंकि यह पुरुषार्थ की सीमा के भीतर का कार्य है परन्तु किसी द्रव्य के अस्तित्व को बनाना या बिगाड़ना मनुष्य के हाथ की बात नहीं क्योंकि वह मनुष्य की पुरुषार्थ की सीमा से परे है।

पुरुषार्थ के द्वारा सब कुछ किया जा सकता है परन्तु नियति-निकाचित कर्म की भी अद्‌भुत शक्ति है।

> उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां।
> प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः॥
> विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां।
> तदपि न चलती यं भाविनी कर्म रेखा॥

चाहे सूर्य पश्चिम में उदय हो जाय, मेरु पर्वत चलायमान हो जाय, अग्नि शीतल हो जाय, पर्वत पर पद्म उग जाये परन्तु भावी-होनहार की जो कर्म रेखा है वह कभी टल नहीं सकती।

नियति के बल पर जो कुछ भी शुभ अथवा अशुभ होने वाला है, वह होकर ही रहेगा। प्राणी चाहे जितना भी बड़ा प्रयत्न क्यों न करे, जो कुछ नहीं होने वाला होगा नहीं होगा और जो होने वाला है उसका नाश भी नहीं हो सकेगा। जो भवितव्य नहीं है नहीं होगा और जो भवितव्य है वह बिना प्रयत्न के भी होगा। अनाज की फसल का फल पाने के लिए कितना ही प्रयत्न करें परन्तु नियति का निर्णय विपरीत हो तो कोई न कोई विघ्न जैसे पाला, टिड्डी, वर्षा का अभाव, अति वर्षा, महामारी, पैदा होकर उनकी फसल नष्ट करने

में निमित्त बन जाता है। नियति को घड़ने वाला तो पुरुषार्थ ही है परन्तु घड़ने के बाद नियति पूर्ण स्वतन्त्र है। नियति निकाचित बंध वाले कर्मों का समूह रूप है। जो कर्म अवश्य भोगना पड़े वह निकाचित कर्म है। जिस कार्य का फल तदनुकूल पुरुषार्थ के विपरीत दशा में गमन करे उसको नियति का कार्य मानना चाहिये। पुरुषार्थ सिर्फ नियति के सामने निष्फल होता है।

एक बार हमारे प्रधानमंत्री स्व पंडित जवाहरलाल नेहरू ने नियतिवाद और स्वतंत्र इच्छा शक्ति का तारतम्य बतलाते हुए लिखा था, "इस विश्व में नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छा शक्ति दोनों के लिए स्थान है। उदाहरण स्वरूप ब्रिज के खेल में प्रत्येक खिलाड़ी को जो ताश के पत्ते मिलते है, उसमें स्वतंत्र इच्छा शक्ति का कोई हाथ नही रहता किन्तु उन्हीं पत्तों की सहायता से अपने अनुभव और बुद्धि कौशल द्वारा चतुर खिलाड़ी जो खेल खेलता है उसमें उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का पूरा योग है।"

Rational Mysticeism के लेखक ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार किया है, "Individual man can modify the course of nature of the earth in many minor ways, but he cannot alter the course of nature as a whole, that is to say, those casmic happenings which are determined by a higher power, or by higher powers." अर्थात बहुत से छोटे-मोटे रूपों में तो व्यक्ति प्रकृति के कार्य व्यापार रूपान्तर उपस्थित कर सकता है किन्तु कुल मिलाकर वह प्रकृति की पद्धति को नहीं बदल सकता अर्थात् विश्व की जो घटनाएं किसी उच्चतर शक्ति या शक्तियों द्वारा नियत कर दी जाती हैं, उनमें परिवर्तन करना व्यक्ति के बस का रोग नहीं।

नियतिवाद और पुरुषार्थवाद का विषय चिरकाल से ही दार्शनिक क्षेत्र में वाद विवाद का विषय रहा है। नियतिवादी नियति को कार्यकारण की नियामक शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं। यदि नियति न हो तो कार्य कारण की व्यवस्था ही भंग हो जाय।

रोग भी देश काल की स्थिति से पैदा नहीं होता परन्तु देश काल की स्थिति से कर्मों की उत्तेजना (उदीरणा) होती है यानि बाहर की परिस्थितियां भीतर के कर्म-पुद्गलों में उत्तेजना पैदा करती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं और आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं।

हमारा जीवन विघ्न-बाधा, दुख व विपत्तियों से भरा पड़ा है। इनके आने पर व्यक्ति घबरा जाता है और मन चंचल हो जाता है। बाहरी निमित्त कारणों को हम दुःख का प्रधान कारण समझ बैठते हैं और उनको भला-बुरा कहते हैं व कोसते हैं। ऐसी जटिल परिस्थिति में कर्मवाद का सिद्धान्त ही हमें सही मार्ग पर ला सकता है और इस निष्कर्ष पर लाता है कि आत्मा ही अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। सुख-दुख स्वयं के किये हुए कर्मों का फल है। कोई भी बाहर की शक्ति आत्मा को सुख-दुख नहीं दे सकती, वह तो केवल निमित्त मात्र बन सकती है। इस विश्वास के दृढ़ होने पर हम दुख और विपत्ति के समय घबराते नहीं परन्तु दृढ़ता के साथ उन विपत्तियों का सामना करते हैं। इस प्रकार कर्मवाद का सिद्धान्त हमें निराशा से बचाता है, दुख सहने की शक्ति देता है और मन को शान्त एवं स्थिर रख कर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है।

इस सम्बन्ध में जयाचार्य रचित कुछ पंक्तियाँ हृदय-स्पर्शी हैं:—

लाभ अलाभ सहैं सम भावे; जीतव मरण समानो रे ।
निंदा स्तुति सुख दुख में समचित, समो मान अपमानो रे ।।
सुख नो कारण वेदन समचित, ए वेदन थी करे कर्मों रे ।
पुण्य रा थाट बंधे समभावा, एथी एकंत निर्जरा धर्मो रे ।।

अति रोग पीडाणां: जग बहु दुख पावें रे ।
ते संभरी सहैं, वेदन सम भावें रे ।।
शूली फांसी फुन, भाला सुं भेदे रे ।
बहु जन जग विखें, अति वेदन वेदे रे ।।
ते तो जीव अज्ञानी, हूँ तो ज्ञान सहितो रे ।
समभावे सहूँ, वेदन धर प्रीतो रे ।। भावे भावना।

संदर्भ :—१. डा० कन्हैयालाल सहल, "नियति का स्वरूप", मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ ४१८
२. जयाचार्य—आराधना की ढाल ।

कर्म-पुद्गल और शरीर रचना विज्ञान

आज के वैज्ञानिक युग में प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति कर्म-सिद्धान्त (जो प्रायः आगम वाणी पर आधारित है) को भी विज्ञान की कसौटी पर कस कर सत्य की गहराई तक पहुँचने का प्रयास करता है। इसलिए जो सिद्धान्त शास्त्र सम्मत है वह अगर विज्ञान सम्मत हो तो किसी भी बौद्धिक व्यक्ति को समझने में आसानी हो जाती है। मनुष्य के शरीर में जो ग्रन्थियां (glands) स्थित है उनके स्रवण से शरीर का जो विकास व ह्रास होता है और कर्म शरीर में स्थित नाम कर्म के उदय से जो शरीर रचना होती है इन दोनों में मिलान करने का प्रयास यहां किया गया है।

हमारे शरीर में पांच अन्तःस्रावी ग्रन्थियां (Endocrine glands) हैं जो कई प्रकार के सक्रिय रसायन पदार्थों को स्रावित करती हैं। यह पदार्थ हारमोन (Harmones) कहलाते हैं। हारमोन शरीर की विभिन्न क्रियाओं पर नियंत्रण रखते हैं। इन ग्रन्थियों में नालिकाएं नहीं होती; अतः इनसे स्रवित हारमोन रुधिर (blood) में सीधे ही चला जाता है। पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland) मस्तिष्क के नीचे के भाग पर होती है। यह ग्रन्थि हारमोन का स्रोत है। पीयूष ग्रन्थि से कई हारमोन स्रावित होते हैं जो शरीर की विभिन्न क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। पीयूष ग्रन्थि से उत्पन्न हारमोन की अधिकता से व्यक्ति विशालकाय तथा उसकी कमी से बौना हो जाता है। पीयूष ग्रन्थि से स्रावित हारमोन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर नियंत्रण रखते है।

थाइराइड ग्रन्थि (Thyroid gland) श्वास नली के नीचे के भाग में स्थित होती है। उसके हारमोन को थाइराक्सिन (Thyroxin) कहते हैं। इस हारमोन में आयोडीन (Iodine) की मात्रा अधिक होती है। थाइराक्सिन भोजन के आक्सीकरण पर नियंत्रण करता है। थाइराक्सिन की कमी से गलगंड (घेंघा) रोग हो जाता है तथा शारीरिक वृद्धि भी कम होती है। इसके विपरीत थाइराक्सिन की मात्रा अधिक होने पर हृदय की धड़कनें बढ़ जाती हैं जिससे बेचैनी होती है। एड्रीनल ग्रन्थि (Adrenal gland) वृक्क के ऊपर स्थित होती है। इससे उत्पन्न हारमोन को एड्रीनेलिन Adrenalinकहते हैं जो हृदय की धड़कनों और भोजन के पाचन पर नियंत्रण रखता है। वृषण नर जनन ग्रन्थि तथा अन्डाशय मादा जनन ग्रन्थि है। वृषण से उत्पन्न हारमोन नर लक्षण तथा अंडाशय से उत्पन्न हारमोन मादा लक्षण उत्पन्न करते हैं।

इस तरह आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने शरीर में अवस्थित ग्रन्थियों के सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। नये जन्म के आरम्भ से ही कर्म-शरीर ओज या ऊर्जा आहार ग्रहण करता है। उसके साथ ही स्थूल शरीर का निर्माण शुरु हो जाता है। शरीर के विकास के साथ नाड़ियां व नस बनते हैं। और भी अनेक प्रकार के संघटन (अवयव) बनते रहते हैं व इन्द्रियों का विकास होता है। इस शरीर में जितने स्रोत हैं, शक्ति व विकास के केन्द्र हैं, ग्रन्थियां हैं, उन सब का संवेदी है स्थूल शरीर। शरीर के विकास व ह्रास के लिए ग्रन्थियां ही निमित्त हैं। यह हुआ शरीर विज्ञान के आधार पर ग्रन्थियों का विश्लेषण। अब इसे शास्त्रीय या आगम भाषा में जानने का प्रयत्न करें।

आठ प्रकार के कर्मों में एक है नाम कर्म। इसकी अनेक प्रकृतियां है, अनेक विभाग हैं। मनुष्य का लम्बा होना या बौना होना, सुन्दर या असुन्दर होना, सुस्वर या दुःस्वर वाला होना, हल्का या भारी शरीर वाला होना, यह सब नाम कर्म की विभिन्न प्रकृतियों पर निर्भर करता है। शरीर का जैसा भी निर्माण व विकास हुआ है वह नाम कर्म के विपाक के कारण है। इस सूक्ष्म शरीर में जितने प्रकार के रस-विपाक विद्यमान हैं या नये बन रहे हैं उन सभी रस-विपाकों के आधार पर ही शरीर रूपी चक्र चलता है। अतीन्द्रिय ज्ञानी ऋषियों ने गहराई में जाकर इन सूक्ष्मताओं का अध्ययन किया है, उसी के आधार पर यह विश्लेषण किया गया है।

अगर हम उपर्युक्त शरीर और कर्म सम्बन्धी विश्लेषण का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें प्रतीत होगा कि दोनों के तथ्यों में समानता हैं। कर्म-शास्त्र के तत्वज्ञों ने 'मूल बिम्ब' का विश्लेषण कर अपने सिद्धान्त का निर्धारण किया और शरीर-वैज्ञानिकों ने उसके 'प्रतिबिम्ब' को देख कर अपने सिद्धान्त का निर्धारण किया, ऐसा लगता है। जैसे आदमी दर्पण के सामने खड़ा है परन्तु दर्पण पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब तो मूल बिम्ब का ही होगा। "अन्तः स्रावी ग्रन्थियां रस स्रावित करती है जिसे हारमोन कहते हैं" ऐसा शरीर वैज्ञानिक कहते हैं। कर्म-शास्त्री उसे कर्मों का विपाक की दशा में आना या उसका अनुभाव बन्ध होना कहते हैं। भौतिक शरीर की ग्रन्थियों का स्रवण भी रस है और कर्म शरीर का रस-विपाक भी रस है। इस प्रकार कर्म-विपाक को कर्म-शास्त्र की पृष्ठ भूमि के आधार पर और उसके साथ ही भौतिक शरीर के अंतःस्रावी ग्रन्थियों के स्रवण का प्रसंग देकर मानव शरीर की बनावट में एक दूसरे की विभिन्नता का कारण समझने का प्रयत्न किया गया है।

सौर मण्डल और शरीर (विवरण पृष्ठ ८७)
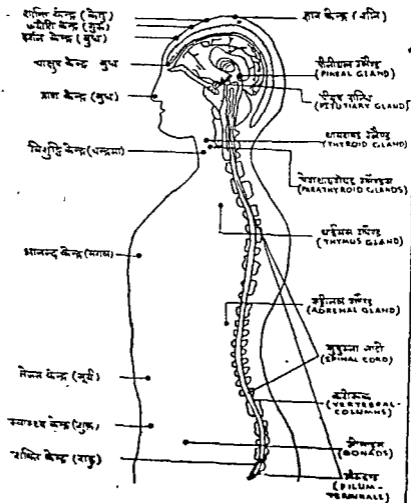
शरीर और मन का पारस्परिक सम्बन्ध

आत्मा अरुपी है इसलिए अदृश्य है। शरीर में आत्मा की सभी क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण स्वरुप आत्मा विद्युत है तो शरीर बल्व। ज्ञान-शक्ति आत्मा के गुण हैं और उसके साधन हैं शरीर के अवयव। आत्मा बोलने का प्रयत्न करती है, हलन चलन का कार्य भी करती है पर इनका माध्यम शरीर है। देखने की शक्ति आत्मा में है फिर भी आँखों के बिना व्यक्ति देख नहीं सकता। आँख में रोग हो गया तो देखने की क्रिया विकृत हो गई। *आँख की चिकित्सा की, आँख स्वस्थ हो* गई फिर से दिखाई देने लगा। यह इसलिए हुआ कि आत्मा की शक्ति नष्ट नहीं हुई। आत्मा के बिना-चिन्तन, जल्प (कथन) और विवेकपूर्ण गति व अगति नहीं हो सकती तथा शरीर के बिना अभिव्यक्ति नही हो सकती।

जब कभी हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है तो उसे पौद्‌गलिक मन के द्वारा पुद्‌गलों को ग्रहण करना ही पड़ता है अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हमारे चिन्तन में जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्‌गलों को द्रव्य मन (पौद्‌गलिक मन) ग्रहण करता चला जाता है। चिन्तन के समय परिणत होकर मन में अगर अनिष्ट पुद्‌गल आते हैं तो शरीर की हानि होती है और इष्ट या अच्छे पुद्‌गल आते हैं तो शरीर को लाभ पहुँचता है। इस प्रकार शरीर पर मन का असर होता है।

श्रीमद् भगवत गीता में भी एक जगह आया है कि हमारे स्थूल शरीर में मन अत्यधिक सूक्ष्म है। उसी मन के पर्दे पुरे

का परिणाम हमारे शरीर पर पड़ा करता है। जैसा मन वैसी ही बुद्धि और कर्म होंगे। हमारे मन ही के द्वारा हम अपना सम्बन्ध सूक्ष्म लोकों और उनके लोकवासियों या दिव्यात्माओं से कर पाते हैं।

मन एक ऐसी क्षमता वाली शक्ति है जो स्मृति, चिन्तन और कल्पना को संचालित करती है। मन की यह शक्ति चेतना से जुड़ी हुई है इसलिए मन चेतन है। चेतन मन के अनेक स्तर हैं जैसे चेतन, अर्धचेतन, अवचेतन (Conscious, sub-conscious and unconscious mind)। अवचेतन मन में संस्कारों का प्रगाढ भंडार है जिससे अर्ध चेतन मन में संस्कार उभरते हैं। अर्धचेतन से सचेतन जगत पर संस्कार आते हैं और इस तरह एक वृत्त (चक्र) बन जाता है। चेतन मन किसी एक अवयव जैसे मस्तिष्क आदि में ही सीमित नहीं रहता परन्तु सम्पूर्ण शरीर में परिव्याप्त रहता है। इसलिए शरीर की प्रत्येक कोशिका सचेतनता से पूर्ण है। वह स्वतंत्र एवं संयुक्त रूप दोनों तरह से कार्य करती है। मस्तिष्क का जो ढांचा है वह मन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है।

शरीर सम्बन्धी कुछ बीमारियाँ मन के विकृत दशा में होने से उत्पन्न होती हैं। पाश्चात्य आधुनिक चिकित्सकों का यह मत है कि व्यक्ति की ७५ प्रतिशत बीमारियाँ मनोशारीरिक होती हैं। उनकी इस धारणा के अनुसार स्वस्थ मन के बिना स्वस्थ शरीर की कल्पना करना ही गलत है। यदि किसी व्यक्ति का मस्तिष्क क्रोध के कारण तनावयुक्त रहता है तो उसकी पाचन शक्ति बिगड़ जाती है अथवा यदि कोई विद्यार्थी उसी तरह के तनाव की दशा में रहता हुआ कोई परीक्षा में बैठता है या साक्षातकार के लिए

जाता है तो उसे सफलता शायद ही मिल सकती है। मानसिक तनाव से मुक्त व्यक्ति ही स्वस्थ कहा जाता है। "सायकोसोमेटिक रोग" (sycosis) ही मनोशारीरिक रोग है। ऐसे रोग की उत्पत्ति विकृत मन से होती है और उसका निदान रोगी के लक्षणों की जांच कर किया जाता है और उसी के आधार पर उसका उपचार किया जाता है। लगातार अत्यधिक मानसिक तनाव एवं कार्य की अधिकता के कारण उत्पन्न थकान होने के उपरान्त भी कुछ समय तक मनुष्य स्वयं को स्वस्थ अनुभव कर फिर भी काम करता रहता है। इस प्रकार कार्यरत होने से अन्ततोगत्वा जब शरीर का रक्षात्मक पक्ष टूटने लगता है तो शरीर किसी न किसी बीमारी का शिकार हो जाता है। जो व्यक्ति हमेशा चिन्ताओं से घिरा रहता है उसमें रक्तचाप (high blood pressure) व मधुमेह का रोग (diabetes) प्रायः पाया जाता है।

भारतीय जीवन विज्ञान-"आयुर्वेद" के मतानुसार मानसिक रोगों की उत्पत्ति में "रज और तम" दोष प्रधान कारण है। इसके बढ़ने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यामय अति-चिन्ता और मनोदैन्य (दिमागी कमजोरी) उत्पन्न होती है। इन विकारों का जनक मनुष्यों का प्रज्ञापराध है। महर्षि चरक के अनुसार "प्रज्ञापराधो हि मूल रोगाणाम्" अर्थात् रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण ही प्रज्ञापराध है यानि अन्तःकरण द्वारा अपराध करना ही सब तरह के रोग उत्पन्न करता है।

जिस प्रकार शरीर कमजोर होने पर व्यक्ति विविध प्रकार के रोगजनक जीवाणुओं (viruses) का शिकार बन जाता है उसी प्रकार मन कमजोर होने पर व्यक्ति सांसारिक, आर्थिक, राजनैतिक

परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले विचार चक्रों का ग्रास बन जाता है और उन्माद और विषाद जैसे रोगों को जन्म देकर शरीर की रोग-निरोध-क्षमता को कमजोर बना देता है। जैसे बीज अनुकूल भूमि में ही पनपता है वैसे ही रोगों के कीटाणु निर्बल और अस्वस्थ शरीर में ही पनप कर अपना प्रभाव डालते हैं। पुरानी कहावत है कि शत्रु और रोग को शुरु से ही दबाना चाहिये क्योंकि रोग बीमार एव उसके परिवार को दुखी कर देता है।

आधुनिक औषधि निर्माण करने वाली कम्पनियों का उद्देश्य ऐसे रसायनों को तैयार करने में रहता है जो कि शरीर की कोशिकाएँ उत्पन्न नहीं करता। मूलरूप से इन औषधियों से शरीर के व्याधिग्रस्त अवयव ठीक नही हो पाते। यदि वे ठीक हो भी जाते है तो उनसे मानसिक निदान नही हो पाता और शरीर पुनः क्षीण होने लगता है। इसी प्रकार कुछ रसायन शरीर में एक विष की तरह भी व्यवहार करते हैं। यही कारण है कि मन और शरीर का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है जो कि चिकित्सा के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इतनी भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध होते हुए भी मनुष्य दिन-प्रति-दिन विक्षिप्त होता जा रहा है। क्यों? यह एक प्रश्न है। उसकी मानसिक पीड़ा को देख कर ऐसा लगता है कि विज्ञान और वैभव की उपलब्धि के पश्चात् भी मनुष्य इसी तरह मानसिक यातनाओं को सहता रहा तो यह विश्व का एक विशाल भाग पागलखाने में परिवर्तित हो सकता है। इस मानसिक वेदना और तनावग्रस्त स्थिति की उपशान्ति के लिए अध्यात्म जगत ने जो समाधान खोजा है, वर्तमान व आने वाली

पीढ़ी अध्यात्म जगत के इन आविष्कारों से ही अपने आपको तनाव से मुक्त रख सकती है। तनाव ग्रस्तता भयंकर स्थिति है। यह मानसिक उद्वेलन पैदा करती है जिसका अगला चरण विक्षिप्तता है। इससे शारीरिक क्षति होती है। इस समस्या के समाधान में श्रीमद् जयाचार्य ने जो चिन्तन प्रस्तुत किया वह मनुष्य जाति के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। "मन विकल्पना मोह थी मन थी मोह दवाया"। मन के सारे विकल्प मोह कर्म के उदय से होते हैं। मोहनीय-कर्म-प्रकृति के कारण व्यक्ति मूढ़ बन कर जो भी क्रिया करता है, उसकी प्रतिक्रिया चित्त पर संस्कार रूप में अंकित हो जाती है। यह संस्कार जब प्रकट होता है तब व्यक्ति नाना अकृत-कर्म कर पाप-कर्म का बन्धन करता है। श्रीमद् जयाचार्य आगे बताते है कि तनाव मुक्ति के उपाय मोह-उपशमन अथवा बाह्य और आभ्यान्तर संयम है।

> भूख तृषा सी ताव ना कष्ट करी तन ताव।
> तन वस कर मन वस करें बहिरंगा एह उपाय॥

भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी और सूर्य का आतप सहन कर शरीर और मन को वश में करना बाह्य और अभ्यान्तर संयम है। मन ऐसा दर्पण है, जिसके सम्मुख जो कुछ आता है वह प्रतिबिम्बित हो जाता है। प्रतिबिम्बित होना सहज प्रक्रिया है। इसको रोका नहीं जा सकता। रोकने की आवश्यकता भी नहीं क्योंकि यह तो ज्ञान का क्षयोपशम भाव है। किसी स्थिति का अनुभव होना मन की विकसित अवस्था है। सर्दी, गर्मी अथवा अन्य विषमताओं की स्थिति से चित्त का समता में लीन होना ही अन्तरंग उपशमन की प्रक्रिया है। जयाचार्य लिखते हैं:—

> मोह उपशम उपाय समपणो, मन सीरया हितकारी।
> समता भाव निरन्तर, आनन्द हुवै अपारी॥

अर्थात् समता भाव की निरन्तर आराधना से तनाव का विलय हो जाता है चाहे क्रोध की अवस्था हो अथवा मान, माया, लोभ की।

मानसिक चिकित्सा के उत्सुक व्यक्ति को जयाचार्य का सकेत है, "प्रथम तू स्वयं स्थिति को समझ कि तुम्हारे चित्त पर मूढ़ता ने साम्राज्य जमा रखा है वही तुमको क्लेश में गिराता है। तू यदि इस क्लेश से मुक्त होना चाहता है तो सब से पहले मूढ़ दृष्टि का परित्याग कर, यथार्थ द्रष्टा बन। जो वस्तु सत्य है उसे उसी रूप में देख, अपनी मूढ़ता का आरोपन उसमें मत कर। वस्तु और घटना अर्थात् भाव अवस्था को जैसा है वैसा ही तू देख, तो तू सम्यक् द्रष्टा बन जाता है। सम्यक दर्शन ही मानसिक चिकित्सा का पहला सूत्र है। दूसरा सूत्र है चित्त की जागरूकता क्योंकि जागरुकता का एक क्षण पुनः नए क्षणों को उत्पन्न करता है। तीसरा सूत्र है निर्मल व शुद्ध समता। यह ऐसा अस्त्र है कि इससे मोह का उन्माद एवं विकलता दोनों उपशान्त होने लगते हैं। निर्मल व शुद्ध समता स्वीकार करने से मानसिक समाधि उपलब्ध होती है और मानसिक समाधि से शरीर अवश्य ही स्वस्थ होगा।

संदर्भ :—मुनि श्री किशनलाल "जयाचार्य का जीवन चरित्र"

कर्म शास्त्र का एकांगी दृष्टिकोण

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्व-दर्शन या मोक्ष-दर्शन रहा है इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने केवल विश्व की व्याख्या और मोक्ष के साधक-बाधक तत्वों की मीमांसा की है, जीवन के वर्तमान और यथार्थ पक्ष की व्याख्या या तो नहीं की है या अल्पांश में की है। फलतः अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र दर्शन शास्त्र से विछिन्न हो गये। व्यापक अर्थ में ये सभी दर्शन की शाखाएँ हैं किन्तु दर्शन को मोक्ष दर्शन के अर्थ में ही रूढ़ करने के कारण उनका पारस्परिक सम्बन्ध विलग हो गया। मोक्ष-दर्शन में समाज को बदलने की कल्पना नहीं है। भारतीय दर्शनों के प्रणेता प्रायः मुमुक्षु साधक हुए हैं। वे सामाजिक भूमिका से दूर थे। उनका लक्ष्य था मोक्ष और वे मोक्ष – लक्षी दृष्टि का ही मुख्यता प्रतिपादन करते थे। इसलिए दर्शन का झुकाव समाज-व्यवस्था को बदलने की दिशा में नहीं है और नहीं रहा है। काम और अर्थ, मोक्ष और धर्म,—इन चार पुरुषार्थों पर भारतीय मनीषियों ने चिंतन किया है फिर भी उनका झुकाव मोक्ष की ओर रहा है। समाज में गरीबी है इस पर भी उन्होंने चिन्तन किया है। यह व्यक्ति द्वारा किये गए कर्मों का फल है इस सूत्र में उसका हेतु भी बतलाया है परन्तु उसे बदला जा सकता है—इस पर्याय की दिशा का उद्‌घाटन नहीं हुआ। इसका कारण रहा कर्म-शास्त्र का एकांगी दृष्टिकोण। यदि अनेकान्त की दृष्टि से कर्म-शास्त्र का अध्ययन किया जाता तो शायद यह निष्कर्ष नहीं निकलता और व्यवस्था परिवर्तन के द्वारा गरीबी समाप्त या कम की जा सकती है यह दृष्टि सम्भवतः उन्हें प्राप्त हो जाती। इसलिए अनेकान्त की दृष्टि से आज कर्म-शास्त्र का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। कर्मवाद की अनेकान्त दृष्टि बतलाती है कि जो कर्म मात्र

की समाज-व्यवस्था में गरीबी और दुख का कारण है, व्यवस्था परिवर्तन हो जाने पर वे ही कर्म विपिन्नता को फलित करें ऐसा आवश्यक नही है क्योंकि सम्पन्नता और विपिन्नता केवल कर्मों पर ही निर्भर नहीं करती क्योंकि कर्मों का विपाक भी अपने आप नहीं होता बल्कि वस्तु, क्षेत्र, काल, भाव, नियति आदि की युति से होता है। अनेकान्त दर्शन के अनुसार किसी भी-कार्य की निष्पत्ति एक हेतु से नहीं होती पर हेतु-समुदाय से होती है।

समाज के सामने अनेक समस्याएँ हैं। सामाजिक विषमता, गरीबी, शस्त्रीकरण, युद्ध, जातीयता, साम्प्रदायिकता, आवश्यक वस्तुओं की कमी, आदि समस्याओं के समाधान के लिये चिन्तन और प्रयत्न दोनों जरूरी हैं और दोनों चल रहे है। परन्तु फिर भी समाधान की दिशा में भारतीय दार्शनिकों व चिन्तकों की दृष्टि स्पष्ट नहीं है ऐसा लगता है। किसी एक महापुरुष या अवतार या महान चिन्तक की शिक्षा मानने से समाज की सारी समस्याएँ सुलझ सकती है—यह एकांगी चिन्तन प्रतीत होता है और कोई प्रत्यक्ष हल निकलना संभव नहीं लगता। हमारी समस्याएँ शाश्वत भले ही हों पर उनका आकार शाश्वत नहीं लगता। समस्याएँ देश व काल के अनुरूप बदलती रहती हैं। यह एकल आग्रह कि हमारी समस्याओं के पीछे महज हमारे पिछले जन्मों के कर्म ही हैं हमें अकर्मण्य बना रहा है। समस्याओं का बदला हुआ आकार हर समय नया दृष्टिकोण चाहता है। हमारे अतीत के अनुभव वर्तमान वातावरण के चिन्तन से सिंचित होकर ही प्राणवान रह सकते हैं। अगर हमने यह मान लिया है कि दर्शन का विकास हो चुका है और उनके अनुसार हमारी समस्याओं का समाधान मिल जाएगा तो ऐसा

सोचना शायद भूल होगी क्योंकि यह दृष्टि एकान्तिक है और इसमे आज की ज्वलंत समस्याओं का समाधान मिलना कठिन है, इसलिए हम केवल कर्मो के विपाक पर ही निर्भर न रह कर आज के वातावरण में अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करें, वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में मानसिक बदलाव करें, आवश्यक उपाय करें, पुरुषार्थ करें तो हम केवल पूर्व-कृत कर्मों के कारण गरीब है इस चिन्तन से मुक्त होने में सक्षम हो सकेंगे और सचमुच गरीबी दूर हो सकेगी। सत्य को जानने के लिये अनेकान्त दृष्टि और उसे पाने के लिये अध्यात्मिक धर्म—यह जैन धर्म की मौलिक उपलब्धि है।

निश्चय और व्यवहार—

एक कोण है निश्चय नय और दूसरा कोण है व्यवहार नय। यदि सूक्ष्म सत्यों को जानना हो तो निश्चय नय का सहारा लो और स्थूल नियमों को जानना हो तो व्यवहार नय का। जब ये दोनों नय सापेक्ष होते हैं, समन्वित होते हैं, तब हम इस सच्चाई तक पहुंच जाते हैं कि भेद और अभेद भिन्न-भिन्न नहीं, किन्तु समन्वित रहते हैं। अस्तित्व और नास्तित्व भिन्न नहीं होते, किन्तु समन्वित होते रहते हैं।

संदर्भ:—युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमांसा—प्रस्तुति, "अनेकान्त तीसरा नेत्र।"

मुक्ति की प्रक्रिया

(Libration of soul)

आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में लिखा है, "कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्षः" अर्थात् सम्पूर्ण कर्म-बन्धनों के नष्ट होने को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष की सूचक है सिद्धावस्था। मानव-आत्मा की अध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुंचने का नाम मुक्ति है। आत्मा के गुणों को कलुषित करने वाले दोषों को दूर करके शुद्ध आत्मा की प्राप्ति को सिद्ध या मुक्ति की दशा कहते हैं। मुक्तावस्था में आत्मा के स्वाभाविक गुण जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य (शक्ति) विकसित होते है। इस अवस्था में जीव कर्म-बन्धन से छूट कर उर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्र भाग में स्थिर हो जाता है और फिर वहाँ से लौट कर नहीं आता। आत्मा जिस अन्तिम शरीर से मोक्ष प्राप्त करती है उसके दो-तिहाई भाग, जो ठोस होता है, जितने जीवात्मा के प्रदेश सिद्ध-स्थान में फैल जाते है। इस सिद्ध-स्थान को जीवात्मा की अवगाहना कहते हैं। भिन्न-भिन्न सिद्धात्माओं के प्रदेश अव्याघात रहने से आपस में एक दूसरे से टकराते नहीं। प्रत्येक आत्मा अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। जैसे एक कमरे में सैकड़ों दीपक रहने पर भी उनका प्रकाश एक दूसरे से टकराता नहीं परन्तु समूचे कमरे में व्याप्त हो जाता है उसी तरह आत्मा के प्रदेश सिद्ध-स्थान में फैल जाते है परन्तु टकराते नहीं। यही सिद्ध या मुक्त आत्मा की स्थिति है।

महाकवि ब्रह्म जिनदास ने निम्न द्विपदी में इस स्थान को "शिवपुर पाटण" कहा है और उसकी प्राप्ति के लिये वह विनती करता है:—

"सिवपुर पाटण रूयडुं, अविचल ठाम अभंग।
देउं स्वामी मुझ निर्मलु, ब्रह्म जिनदास भणी चंग॥
"पछि मनुष जन्म लही करी, उत्तम कुल उत्तंग।
सयम लेई जिणवर तणु, मुगति साधसों गुण चंग॥"

ब्रह्म जिनदास ही नही समस्त जैन दर्शन की यही मान्यता है कि मनुष्य जन्म से ही मुक्ति सिद्ध हो सकती है। मुक्तावस्था में बिना शरीर के केवल शुद्धात्मा रहती है। सभी शारीरिक अवस्थाएं जैसे जीवन-मरण, यौवन-बुढ़ापा, रोग, शोक, दुख, भय, आधि, व्याधि कुछ भी नहीं रहता क्योंकि ये अवस्थाएं शरीर से सम्बन्ध रखती हैं और शरीर वहां होता नहीं। मुक्तावस्था आत्मा की शुद्धावस्था का ही नामान्तरण है। वहां आत्मा सर्वदा निराकुल होकर आत्म-सुख में निमग्न रहती है।

सभी प्रकार के भौतिक सुख उपलब्ध होने पर भी मनुष्य को कर्मों से मुक्त होना है। मुक्त होने पर ही व्यक्ति को आत्म-शान्ति मिलेगी, बार-बार जन्म-मरण की शृंखला टूटेगी, सहज ही सुख मिलेगा एवं अनन्त आनन्द की अनुभूति होगी। प्रश्न है मुक्ति कैसे मिले ?

राग और द्वेष - विस्तार में क्रोध, मान, माया और लोभ—ये कषाय कर्म-बन्धन के मूल कारण हैं। इन कषायों को कम कैसे करें ? इनका अलीकरण कैसे हो ? कर्मों का क्षय कैसे हो ?

यावन्नान्तर्मुखी वृत्ति वाहिर्व्यापारवर्जनम् ।
तावत्तस्य न चांशेऽपि, प्रादुर्भाव समश्नुते ॥

जब तक मनुष्य की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी नही बनती और उनका बहिर्मुखी व्यापार नहीं रुकता, तब तक उसमें आत्मिक आनन्द का अंश भी प्रकट नही हो सकता । हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी कैसे बने ? ऐसे सम्बन्धित कई प्रश्न हैं जिनका समाधान पाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है । इस सम्बन्ध में गुणस्थान, लेश्या, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संवर, निर्जरा आदि का अध्ययन करना आवश्यक है ।

गुणस्थान (Spiritual development)

आत्माएँ तीन हैं:—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । बहिरात्मा अपनी मिथ्यादृष्टि को छोड़ कर किस प्रकार अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि बनती है और किस प्रकार आत्म-विकास करते हुए परमात्मा बन जाती है, उसके क्रमिक विकास का नाम ही गुणस्थान है । "आत्मनः क्रमिक विशुद्धि गुण-स्थानम्" जीव के अध्यात्मिक क्रमिक विकास को जैन दर्शन में गुणस्थान कहते हैं । आत्मिक गुणों के अल्पतम विकास को लेकर उसके सम्पूर्ण विकास तक की समस्त भूमिकाओं को चौदह भागों में बांटा गया है । यह संसारी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा चौदह गुणस्थान रूपी नसैनी (सीढ़ी-staircase) पर चढ़ता हुआ लोक के अग्र भाग में अवस्थित सिद्धालय तक पहुंचता है और अनन्त दुखों से छूट कर अनन्त आत्मिक सुख का अनुभव करता है । प्रारम्भ में तीन गुणस्थान वाले जीवों की संज्ञा बहिरात्मा है, चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवों

को अन्तरात्मा कहते हैं और तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते हैं।

इन गुणस्थानों के निर्माण का दूसरा पहलू यह है:–आत्मा में पांच प्रकार के मालिन्य हैं जिन्हें जैन परिभाषा में आस्रव कहते हैं। पहला मिथ्यात्व जो सम्यक् श्रद्धा को आच्छादित कर मनुष्य की बुद्धि को विपरीत बनाता है। दूसरा मालिन्य है अविरत, जो व्यक्ति को आशा-तृष्णा के पाश में डालता है। तीसरा मालिन्य है प्रमाद जो व्यक्ति के सतत धर्म-उत्साह को भंग कर उसे प्रमादी बनाता है। चौथा मालिन्य हैं कषाय, जो आत्मा को क्रोध, मान, माया व लोभ की अग्नि से प्रज्वलित करता है और पाँचवां मालिन्य है योग, जो आत्मा को चंचल बनाता है। इन मालिन्यों एवं मोहनीय कर्म की प्रबलता व निर्बलता पर जीव की चौदह अवस्थाओं का निर्माण होता है। जैसे-जैसे और जितना मालिन्य हटता है व मोहनीय कर्म क्षीण होता है वैसे-वैसे और उतनी आत्म-विशुद्धि होती है। आत्मा की निर्बलता से गुण स्थानक्रमशः ऊँचे होते हैं और मलिनता से नीचे। चौदह गुणस्थान (fourteen stages) इस प्रकार हैं :—

१. मिथ्यादृष्टि (Wrong belief or delusion):—जब तक जीव को आत्म-स्वरुप का दर्शन नहीं होता तब तक वह मिथ्या-दृष्टि कहलाता है। संसार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथम गुणस्थान की भूमिका में रहते हैं। वे शरीर की उत्पत्ति व मरण को ही आत्मा की उत्पत्ति व मरण मान लेते हैं। वे शरीर की सुरूपता-कुरूपता, सबलता-निर्बलता व शारीरिक इन्द्रिय जनित सुख-दुःख की परिणति को ही सब कुछ मान लेते हैं। शरीर में

आत्मा है या आत्मा अमर है ऐसी मान्यता या ऐसा अनुभव उन्हें नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि जीव का दर्शनमोहनीय कर्म अनादिकाल से एक मिथ्यात्व के रूप में चला आ रहा था परन्तु करण लब्धि के प्रताप से यानि सुगुरू के निमित्त से जीव को प्रथम बार जो सम्यक् दर्शन होता है उसे प्रथमोपशम-सम्यक्त्व कहते है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। इस काल के समाप्त होते ही यह जीव सम्यक्त्व रूप में पर्वत से गिरता है। उस काल में यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाए तो वह तीसरे गुणस्थान में पहुंचता है और यदि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय का उदय आ जाये तो दूसरे गुणस्थान में पहुंचता है। तदनन्तर मिथ्यात्व कर्म का उदय आता है और यह जीव पुन: मिथ्यादृष्टि बन जाता है अर्थात् पहले गुणस्थान में आ जाता है। इस सब का सार यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान जीव के उत्थान काल में नहीं होते, किन्तु पतनकाल में ही होते हैं।

२. सासादन सम्यग्दृष्टि (Down fall from the fourth stage) :—इस गुणस्थान की प्राप्ति जीव को सम्यक्त्व दशा से पतित होते समय होती है। सासादन का अर्थ है सम्यक्त्व की विराधना। सम्यक्त्व के विराधक जीव को सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं। जैसे कोई जीव मीठी खीर खाये और तत्काल उसे वमन हो जाय, तो वमन करते हुए भी वह खीर की मिठास का अनुभव करता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब कर्मोदय की तीव्रता से सम्यक्त्व का वमन करता है, तो उस वमनकाल में भी उसे सम्यग्दर्शनकाल भावी आत्मविशुद्धि का आभास होता रहता है। किन्तु जैसे किसी ऊँचे स्थान से गिरने वाले व्यक्ति

का आकाश में अधर रहना अधिक काल तक संभव नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से गिरते हुए जीव का दूसरे गुणस्थान में छः *आवलिकाल से अधिक अवधि तक रहना संभव नहीं है। तत्पश्चात्, जीव नियमानुसार पहले गुणस्थान में जा पहुंचता है।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (Belief in right or wrong at the same time) :—चौथे गुणस्थान की असंयत सम्यग्दृष्टि दशा में रहते हुए जब जीव के मोहनीय कर्म की सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है, तो वह जीव चौथे गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान में आ जाता है। ऐसे जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही होते हैं और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप किन्तु मिश्र रूप होते हैं। जैसे दही और चीनी का मिला हुआ स्वाद न तो केवल दही रूपी खट्टा ही प्रतीत होता है और न चीनी रूपी मीठा ही किन्तु एक तीसरी तरह का खटमीठा स्वाद आता है। इसी प्रकार तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के यथार्थ-अयथार्थ के सम्मिश्रित परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान का काल भी अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त है। इतना अवश्य सम्भव है कि इस गुणस्थान वाला जीव यदि सम्भल जाये तो चौथे गुणस्थान में पहुंच सकता है अन्यथा उसका पतन नीचे के गुणस्थानों में निश्चित है।

---

*सब से सूक्ष्म अविभाज्य काल का नाम समय है। असंख्य समय को एक आवलिकाल कहते हैं। छः आवलि प्रमाण काल भी एक मिनट से बहुत छोटा होता है। दो समय से लेकर दो घड़ी (४८ मिनट) में एक समय कम इतने काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। दो समय के काल को या एक समय से अधिक आवलिकाल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। दो घड़ी में एक समय कम काल को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

४. असंयतसम्यग्दृष्टि (Vowless right belief):- जीव को यथार्थ या सम्यग् दृष्टि प्राप्त होते ही चौथा गुणस्थान मिल जाता है। सम्यग् दृष्टि (दर्शन) तीन प्रकार की होती है:- उपशम, क्षयिक और क्षयोपशमिक। दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियों तथा चरित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकृतियां, कुल सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जीव को सर्वप्रथम इसी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, किन्तु इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है। अतः उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व से गिर जाता है और मिथ्यादृष्टि बन जाता है। पुनः यह जीव ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है और सातों प्रकृतियों का क्षयोपशम करके क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है। उसका काल अन्तर्मुहूर्त से लगा कर ६६ सागर तक का है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव की और मिथ्यादृष्टि की बाहरी क्रियाओं में कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता, पर अन्तरंग में आकाश-पाताल जैसा अन्तर हो जाता है। मिथ्यादृष्टि की परिणति सदा मलिन रहती है और सम्यग्दृष्टि की परिणति विशुद्ध और धर्मध्यानमय होती है। असंयत सम्यग्दृष्टि जीव घर में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है जैसे जल में रहता हुआ कमल जल से अलिप्त रहता है। वह इन्द्रिय भोगों को भोगते हुए भी उनमें अनासक्त रहता है।

५. देशसंयत (Partial vows-Anuvirati) :-चौथे गुणस्थान में रहते हुए जीव आत्म-विकास की ओर अग्रसर होता है। वह सोचता है कि जिन भोगों को वह भोग रहा है वे

कर्म-बन्धन के कारण हैं। इसलिए वह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पांच पापों का स्थूल त्याग करता है जैसे मैं किसी भी त्रसजीव का सकल्पपूर्वक घात नहीं करूंगा, राज्य-विरुद्ध, समाज-विरुद्ध, देश-विरुद्ध व धर्म-विरुद्ध असत्य नहीं बोलूंगा, बिना दिये किसी की वस्तु को नहीं लूंगा; भागीदार का हक नहीं छीनूंगा, आदि; अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री मात्र पर बुरी दृष्टिपात नहीं करूंगा; अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखता हुआ अनावश्यक परिग्रह के संग्रह का त्याग करूंगा। इन पांचों अणुव्रतों की रक्षा और वृद्धि के लिए तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत रूपी सात शील व्रतों को भी वह धारण करता है। इस तरह श्रावक के उक्त बारह व्रतों का पालन करते हुए वह आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है।

इस गुणस्थान वाला जीव संसार से उत्तरोत्तर विरक्त होते हुए अपने आरम्भ और परिग्रह को भी घटाता है और अपने आत्मिक गुणों का विकास करता रहता है। अन्त में सर्व आरम्भ का त्याग कर, शुद्ध ब्रह्मचर्य को धारण कर, तथा घरबार को भी छोड़ कर साधु बनने की ओर अग्रसर होता है या समाधि मरण पूर्वक अपने शरीर को विसर्जित करता है।

६. प्रमत्त-संयत (observance of the great vows i.e. becoming a monk) :—गृहस्थ धर्म पालन करते हुए जब जब यह अनुभव करता है कि इतनी सावधानी रखते हुए भी गृहस्थ जीवन में आत्म-शान्ति में बाधा पड़ती है, तब वह अपने परिवार से नाता तोड़ कर साधु बनने को तैयार होता है। अवसर आने पर वह अहिंसादि पंच महाव्रतों को अंगीकार करता है और

संयम की साधना में संलग्न हो जाता है। संयम पालन करने से वह संयत तो है तथापि जब तक उसमें प्रमाद रहता है तब तक उसे प्रमत्त संयत कहते हैं। साधु में सदा प्रमाद भी नहीं रहता; वह सावधान होकर आत्म-चिन्तन भी करता है। आत्म-चिन्तन के समय उसे अप्रमत्त दशा आ जाती है। इस प्रकार वह कभी प्रमत्तदशा में तो कभी अप्रमत्तदशा में आता जाता रहता है। क्योंकि वह साधु बन जाने के कारण पाँचों पापों को यावज्जीवन सर्वथा त्याग कर चुका है अतः वह सयत है। प्रमाद के कारण वह प्रमत्त संयत कहा जाता है।

७. अप्रमत्त संयत (observance of the great vows with perfect heedfullness):–साधु की सावधान दशा का नाम सातवाँ गुणस्थान है। जितने समय तक वह आत्म-चिन्तन और उसके मनन में जागरुक रहता है, उतनी देर के लिए वह सातवें गुणस्थान में रहता है। जब कभी उसमें प्रमाद रूप परिणति प्रकट हो जाती है तो वह छठे गुणस्थान में आ जाता है। जिन साधुओं की प्रवृत्ति निरन्तर बहिर्मुखी देखने में आती है, जो निरन्तर खान-पान की चर्चा में, विकथाओं में व्यस्त और निद्रा में मस्त रहते हैं उनको भी कभी-कभी तो ऐसा विचार आता ही है कि "आत्मन: तुम कहाँ भटक रहे हो ! प्रमाद मे रहना हितकर नहीं है, यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है" ऐसा विचार आते ही वह आत्माभिमुख हो जाता है। इस तरह वह छठे से सातवें में और सातवें से छठे गुणस्थान में आता जाता रहता है।

सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक का काल परम समाधि का है। आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारम्भ

होती हैं। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी:- आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ गुणस्थान। क्षपक श्रेणी:- आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ गुणस्थान। क्षपक श्रेणी पर केवल तद्भवमोक्षगामी क्षयिक सम्यग् दृष्टि साधु ही चढ़ सकता है, अन्य नहीं। उपशम श्रेणी पर तद्भव मोक्षगामी व अतद्भव मोक्षगामी तथा उपशमिक व क्षयिक सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के जीव चढ़ सकते हैं।

८. अपूर्वकरण संयत (New thought activity which the saint's soul had never before acquired) जब कोई सातिशय अप्रमत्त संयत मोहकर्म का उपशमन करने के लिए इस गुणस्थान में प्रवेश करता है तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण अपूर्व ही होते हैं। इसके पहले ऐसे परिणाम कभी प्राप्त नहीं हुए थे इसलिए उन्हें अपूर्व कहते हैं। इस गुणस्थान में प्रविष्ट सभी जीवों के परिणाम अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए होते हैं, इसीलिए इसका नाम अपूर्वकरण है। इस गुणस्थान में मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नहीं होता है तथापि आत्मा स्थूल रूप से कषाय—क्रोध, मान, माया व लोभ-से मुक्त हो जाती है।

९. अनिवृत्तिकरण-संयत (Advanced thought activity of a still greater purity) :—आठवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल रह कर और अपूर्व विशुद्धि को प्राप्त कर विशिष्ट आत्म-शक्ति का संचय करके यह जीव नौवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। कर्मों के सत्व का भी बहुत परिमाण में ह्रास होता है और प्रति समय कर्म प्रदेशों की निर्जरा असंख्यातगुणी

बढ़ती जाती है। उपशम श्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान में मोह कर्म की एक सूक्ष्म लोभ प्रकृति को छोड़ कर शेष सर्व प्रकृतियों का उपशमन कर देता है। क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्हीं का क्षय करके दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है और विशेपतया मोहकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।

१०. **सूक्ष्म साम्पराय** (Absence of all passions except the most subtle greed) इस गुणस्थान में परिणामों की उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा मोह कर्म की जो एक सूक्ष्म लोभ-प्रकृति शेष रह गई है, वह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती जाती है। उसे उपशम श्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में जा पहुंचता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव क्षय करके बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है। साम्पराय का अर्थ है लोभ। उस गुणस्थान में परिणामों द्वारा लोभ कपाय क्षीण या शुद्ध होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाता है अतः इस गुणस्थान को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपक श्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान मे अन्तिम समय में सूक्ष्म लोभ के साथ अन्य कर्मों की अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।

११. **उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ** (subsided delusion i. e. subsidence of the entire right conduct deluding 'Karmas') :—दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशम होते ही समस्त कषायों का उपशमन हो जाता है और वह जीव उपशान्त कषायी बन कर ग्यारहवें गुणस्थान में आता है। जिस प्रकार गन्दले जल में फिटकरी आदि डालने पर उसका मल भाग नीचे बैठ

जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है। उसी प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है, जिससे कि जीव के परिणामों में एक दम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती हैं, इसी कारण उसे उपशान्तमोह या वीतराग संज्ञा प्राप्त हो जाती है। किन्तु अभी तक वह अल्पज्ञ ही है, क्योंकि ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म विद्यमान है अतः वह वीतराग होते हुए भी छद्मस्त कहलाता है। मोहकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए ही होता है, अतः उस काल के समाप्त होते ही इस जीव का पतन होता है और वह नीचे के गुणस्थान में चला जाता है।

१२. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ (Delusion annihilated) :—क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवें गुणस्थान में जा पहुंचता है। इस गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है। उसके द्वारा वह ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मों का क्षय करता है। मोह कर्म का क्षय तो दसवें गुणस्थान के अन्त में हो हो चुका था। इस प्रकार चारों घाति कर्मों का क्षय होते ही वह कैवल्य दशा को प्राप्त करता हुआ तेरहवें गुण स्थान में प्रवेश करता है।

१३. संयोगी केवली (Omniscient soul with yogic vibration) बारहवें गुणस्थान के अन्त तक चारों घात्य कर्मों को एक साथ क्षय करता हुआ जीव विश्व तत्वज्ञ और विश्वदर्शी बन जाता है। इसे ही अरहन्त अवस्था कहते हैं। केवल ज्ञान की प्राप्ति हो

जाने के कारण उसे केवली भी कहते हैं। योग अभी तक बना हुआ है। अतः इस गुणस्थान का नाम संयोगी केवली है। ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण कर्म के क्षय से अनन्त दर्शन, मोह कर्म के क्षय से अनन्त सुख और क्षायिक सम्यक्त्व, अन्तराय कम के क्षय से अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और अनन्त वीर्य की प्राप्ति होती है। अरहन्त भगवान् विहार करते हुए भव्य जीवों को अपने जीवन पर्यन्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं। इस गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष एवं अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटी वर्ष है।

इस गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद प्रकट होता है और भगवान केवली समुद्घात करते हैं। प्रथम समय में चौदह रजु प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म प्रदेश फैलते हैं, दूसरे समय में कपाट के आकार के आत्म-प्रदेश चौड़े हो जाते हैं, तीसरे समय में प्रतल के आकार में विस्तृत होते है और चौथे समय में उनके आत्म प्रदेश सारे लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। इसे लोक पूरण समुद्घात कहते हैं। इस प्रकार चार समयों में आत्म-प्रदेश वापस सकुचित होते हुए शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस केवली समुद्घात क्रिया से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति भी आयु कर्म के बराबर अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है। तभी भगवान चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं।

१४. अयोगी केवली (Vibrationless Omniscient soul)-इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चौथा भेद प्रकट होता है और उनके द्वारा उनके योगों का निरोध होता है। योग निरोध के कारण ही उनको अयोगी केवली कहा जाता है। इस

गुणस्थान में केवली भगवान अघाति कर्मों की सभी प्रकृतियों का क्षय करते हैं और एक क्षण में सर्व कर्मों से मुक्त होकर अयोगी केवली भगवान् सिद्ध या मुक्त संज्ञा को प्राप्त करते हुए सिद्धालय में जा विराजते हैं और सदा के लिए आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

इस तरह बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिए गुणस्थानों पर चढ़ कर उत्तरोत्तर आत्मविकास के लिए प्रत्येक तत्वज्ञ पुरुष को प्रयत्न करना चाहिये।

लेश्या (Coloured pudgal)

जैन दर्शन 'मन' को आत्मा से भिन्न अनात्म जड़ और एक विशेष प्रकार के पुद्गलों (मनोवर्गणा के द्रव्यों) से निर्मित पदार्थ मानता है तथा मन को भी पुद्गल की भांति वर्ण, आकार व शक्ति युक्त मानता है। आगमों में मन के विभिन्न स्तरों का वर्गीकरण लेश्याओं के रूप में किया गया है।

१. **कृष्ण लेश्या** (Black pudgal) :—अतीव हिंसा, अतीव क्रोध, अतीव क्रूरता आदि अशुभतम भाव कृष्ण लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से कृष्ण वर्ण की मनोवर्गणाएं पैदा होती हैं।

संदर्भ :—प. हीरालाल जैन, "गुण स्थान", मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ ४२६

२. नील लेश्या (Indigo pudgal) :—अति हिंसा, अति क्रोध, अति क्रूरता आदि अशुभतर भाव नील लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से नीले रंग की मनोवर्गणाएं पैदा होती है।

३. कापोत लेश्या (Blue pudgal) :—हिंसा, क्रोध, क्रूरता आदि अशुभ भाव कापोत लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से कबूतरी रंग की मनोवर्गणाएं पैदा होती हैं।

४. पीत (तैजस्) लेश्या (*Yellow pudgal*):—अहिंसा, समता, करुणा आदि के शुभ भाव पीत के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से पीले रंग की मनोवर्गणाएं पैदा होती है।

५. पदम लेश्या (Rose Colour pudgal) :—अहिंसा, समता, करुणा आदि के शुभतर भाव पदम लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से हल्के गुलाबी रंग की मनोवर्गणाएं पैदा होती हैं।

६. शुक्ल लेश्या (White pudgal) :—अहिंसा, समता, करुणा आदि के शुभतम भाव शुक्ल लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावों से शुभ्र या श्वेत रंग की मनोवर्गणाएं पैदा होती हैं।

ये मनोवर्गणाएं लेश्या वाले व्यक्ति के चारों ओर बादलों के समान फैल जाती हैं। इन वर्गणाओं के मेघों के समुदाय में न केवल वर्ण ही होता है अपितु आकार एवं शक्ति भी होती है। आदमी का जैसा विचार या संकल्प होता है वैसा ही आकार

होता है और उसी के अनुसार उस आकृति का रंग भी होता है। आकाश में संकल्प द्वारा नाना रूप बनते हैं। इन रूपों की बाह्य रेखा की स्पष्टता-अस्पष्टता संकल्पों की तीव्रता के तारतम्य पर निर्भर है। रंग विचारों का अनुसरण करते हैं। प्रेम एवं भक्ति युक्त विचार गुलाबी रंग, तर्क-वितर्क पीला रंग, स्वार्थ-परता हरा रंग तथा क्रोध लाल मिश्रित काला रंग के आकारों को पैदा करते हैं। अच्छे विचारों के रंग बहुत सुन्दर और प्रकाशमान होते हैं, उनसे रेडियम के समान ही सदैव तेज निकला करता है। विचार के समय मस्तिष्क में विद्युत उत्पन्न होती है और यह मानव के लिये उपयोगी है क्योंकि विचार-विद्युत की लहरों का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण व ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया को टेलीपैथी कहते हैं और टेलीपैथी के प्रयोग से हजारों दूरस्थ व्यक्ति भी विचारों का आदान-प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकता है।

प्रथम तीन लेश्याओं के परिणाम अशुभतम, अशुभतर और अशुभ और अन्य तीन लेश्याओं के परिणाम शुभ, शुभतर, और शुभतम होते हैं। शुक्ल लेश्या में राग-द्वेष रहित होना, आत्म-लीन होना आदि परिणाम हैं यानि जीव सभी कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

संदर्भ :—कन्हैयालाल लोढ़ा, "जैन दर्शन और विज्ञान" मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ३३५

सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र

तत्त्वार्थ सूत्र का प्रथम सूत्र है—"सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः"। अर्थात् मोक्ष की सिद्धि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र तीनों के द्वारा सहजतः हो सकती है। भगवान महावीर ने कहा, "जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचरण सम्पन्न होते हैं, वे मुक्त होते हैं।

सम्यक् ज्ञान (Right Knowledge) :—जिन पदार्थों का जैसा स्वरुप है, उनको वैसा ही जानना। इससे स्वयं का बोध होता है। ज्ञान वह होता है जहां केवल जानना होता है एव जानने के सिवाय कुछ भी नही होता। जिस ज्ञान का स्वभाव आत्मा में लीन होना है, वह सम्यक् ज्ञान कहलाता है।

यथावस्तु परिज्ञानं, ज्ञानंज्ञानिभिरुच्यते।
राग द्वेष मद क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः ॥

जो वस्तु जैसी है, वैसा ज्ञान होना अर्थात् सत्य का बोध होना ज्ञान है। जब ज्ञान से राग-द्वेष जुड़ जाते हैं तब वह संवेदन या अज्ञान बन जाता है, ज्ञान नहीं रहता।

सम्यक् दर्शन (Right Faith) :—तात्विक रुचि, सम्यक् श्रद्धा, देखने की व साक्षात्कार की जो पद्धति है वह है दर्शन। दर्शन का पहला आयाम है अतीन्द्रिय चेतना का जागरण। आज केवल तार्किक नियमों के आधार पर दर्शन का समूचा प्रासाद खड़ा हुआ है। आज केवल तर्क है, अनुभूति नहीं। प्राचीन दार्शनिक सूक्ष्म सत्य को सूक्ष्म चेतना के द्वारा खोजते थे। आज के वैज्ञा-

निकों ने सूक्ष्म यन्त्रों का निर्माण किया है और उनके द्वारा सूक्ष्म सत्यों को खोजने का प्रयास करते हैं। पुराने जमाने के दार्शनिक ऋषि कहलाते थे। "दर्शनात् ऋषिः"—ऋषि का अर्थ है द्रष्टा, देखने वाला। दर्शन-मूलक यानि सम्यक् दर्शन के द्वारा आत्मा उपलब्ध होती है, समन्वय सधता है व मैत्री उपलब्ध होती है। तर्क-मूलक दर्शन के द्वारा संघर्ष बढ़े हैं, विवाद और जय विजय की भावना बढ़ी है।

सम्यग् दर्शन सम्पन्नः, श्रद्धावान् योगमर्हति।
विचिकित्सां समापन्नः, समाधि नैव गच्छति॥

जो सम्यक् दर्शन से सम्पन्न और श्रद्धावान है, वह योग का अधिकारी है। जो संशयशील है, वह समाधि को प्राप्त नहीं होता।

सम्यक् चारित्र (Right Character) की परिभाषा है :- आस्रव का निरोध करना, अशुभ प्रवृत्तियों का संवरण करना, शुद्ध आचरण करना, चारित्रवान बनना, इन्द्रियों का, मन का व वासनाओं का संयमन करना, सात्विक जीवन जीना। सम्यक् चारित्र से व्यक्ति स्वभाव में अवस्थित होता है। साध्य के लिए ज्ञान और आचरण (पहले जानो फिर अभ्यास करो) दोनों अपेक्षित हैं। सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति सम्यक् चारित्र में होती है और सम्यक् आचरण सम्यक् ज्ञान के समुद्घाटन में योग देता है। इसी कारण भगवान महावीर ने चारित्रोत्थान पर विशेष बल दिया है। "चारित्तं खलु धम्मो" अर्थात् चारित्र ही धर्म है, चारित्र ही ईश्वरीय रूप है और वही मनुष्य को ईश्वरत्व तक ले जाता है। आत्म-धर्म या सम्यक् चारित्र आत्मा का ऊर्ध्वीकरण करता है।

सम्यक् दर्शन ज्ञान से, अन्तर संवर होय।
नये कर्म बांधे नाय, क्षीण पुरातन होय॥

जिसने स्वयं को जान लिया और स्वयं में अपनी प्रतिष्ठा बना ली, मुक्ति उससे कैसे दूर हो सकती है?

"सम्बोधि" सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का दिशा बोध है। वह गति भी है और गन्तव्य भी है; वह साधन भी है और सिद्धि भी है; वह पूर्णता भी है और रिक्तता भी है। सत्य एक है और उपलब्धि का मार्ग भी एक है और वह मार्ग है सम्बोधि।

प्रागैतिहासिक काल की घटना है :—जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ इस धरती पर थे। एक दिन उनके अट्ठानवें पुत्र एक साथ मिल कर भगवान के पास आए और प्रार्थना की, "भरत ने हम सब के राज्य छीन लिए हैं। हम अपना राज्य पाने की आशा लिए आपकी शरण में आए हैं"।

भगवान ऋषभ ने कहा, "मैं तुम्हें वह राज्य तो नहीं दे सकता किन्तु ऐसा राज्य दे सकता हूं, जिसे कोई छीन न सके।"

पुत्रों ने पूछा, "वह राज्य कौनसा है?"

भगवान ने कहा, "वह राज्य है–आत्मा की उपलब्धि।"

पुत्रों ने प्रश्न किया, "वह कैसे हो सकती है?"

तब भगवान ने उत्तर दिया :–

"संबुज्झह कि न बुज्झह, संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।
नो ह वणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं॥"

"सम्बोधि" को प्राप्त करो। तुम "सम्बोधि" को प्राप्त क्यों

नहीं कर रहे हो ? बीती रात लौट कर नहीं आती। यह मनुष्य जीवन बार बार सुलभ नहीं है। हम जो पाना चाहते हैं वह हमारे पास है। बाहर से हमें कुछ भी नहीं लेना है।

इस प्रकार जैन धर्म के साथ "सम्बोधि" का प्रागैतिहासिक सम्बन्ध है। सम्बोधि क्या है ? वह है आत्म-मुक्ति का मार्ग। वे सब मार्ग जो हमें आत्मा की सम्पूर्ण स्वाधीनता की ओर ले जाते हैं, एक शब्द में "सम्बोधि" कहलाते हैं। जैन दर्शन का यह अभिमत है कि हम कोरे ज्ञान से आत्म-मुक्ति को नहीं पा सकते, कोरे दर्शन से और कोरे चारित्र से भी उसे नहीं पा सकते। उसकी प्राप्ति तीनों के समवाय से अर्थात् अविकल "सम्बोधि" से ही हो सकती है।

'गीता' का अर्जुन कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में क्लीव होता है तो 'सम्बोधि' का मेघकुमार साधना की समरभूमि में क्लीव बनता है। 'गीता' के गायक योगिराज कृष्ण हैं और 'सम्बोधि' के गायक हैं भगवान महावीर। अर्जुन का पौरुष जाग उठा योगिराज का उपदेश सुन कर और भगवान महावीर की वाणी सुन कर मेघकुमार की आत्मा चैतन्य हो उठी। दीपक से दीपक जलता है। कभी कभी ज्योति का एक कण भी जीवन को ज्योतिर्मय बना देता है।

इह दर्शनमापन्नो, मुच्यते नेति संगतम्।
श्रुत शील समापन्नो, मुक्तो नात्र संशयः॥

कुछ लोगों का अभिमत है कि अमुक दर्शन को स्वीकार करने से व्यक्ति मुक्त हो जाता है किन्तु यह संगत नहीं है। सच्चाई यह है कि जो श्रुत (ज्ञान) और शील (आचार) से युक्त हो जाता है

वह निःसंदेह मुक्त हो जाता है या मोक्ष मार्ग का सर्वथा आराधक है। जो इन दोनों से रहित है वह मोक्ष मार्ग का विराधक है। मुक्ति का किसी सम्प्रदाय से अनुबन्ध नहीं है, उसका एक मात्र अनुबन्ध है धर्म से।

मोह कर्म की वर्गणाएँ आत्मा के सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को प्रभावित करती हैं। उसकी प्रबल उदयावस्था में न सम्यक् दर्शन रहता है न सम्यक् चारित्र और सघनता में विचार और आचार भी पवित्र नहीं रह सकते। विचार जब अपवित्र होते हैं तब असत्य के प्रति आग्रह बढ़ता है और सत्य में अविश्वास प्रबल हो उठता है। दुराग्रह से मिथ्यात्व (delusion) प्रबल हो जाता है। आत्मा है या नहीं; स्वर्ग है या नहीं; सर्व धर्म समान है; दूध-दूध एक है चाहे फिर वह आक का हो या गाय का – इस प्रकार के प्रश्नों में उलझ जाने की स्थिति "मिथ्यात्व" है। चेतन को जड़ और जड़ को चेतन मानना इस प्रकार की धारणा हो जाती है। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का होना या सम्यक् दृष्टि का होना आवश्यक है।

सम्यक्त्व या सम्यक् दृष्टि:— यथार्थ तत्व श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम (subsidence) क्षय, (destruction) क्षयोपशम (destruction cum subsidence), सास्वादन और वेदक ये सम्यक्त्व के पाँच प्रकार है। जब तक दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) तथा मोहनीय कर्म की चार प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ) का उदय रहता है तब तक मिथ्यात्व का अस्तित्व रहता है। जब इन सात प्रकृतियों का क्षय-क्षयोपशम होता है तब

सम्यक्त्व – क्षयिक या क्षयोपशमिक – की प्राप्ति होती है। जीव व अजीव के यथार्थ ज्ञान के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नहीं होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नहीं। सम्यक् दृष्टि जिस व्यक्ति को उपलब्ध हो जाती है उसे मोक्ष गमन का 'आरक्षण-पत्र' मिल जाता है। शास्त्रों में लिखा है कि एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाने पर "देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्ति" में मुक्त होना निश्चित है। सम्यक्त्व आत्म-विकास की सुदृढ़ पृष्ठ-भूमि है। इस पर आरूढ़ होकर ही आत्मा पूर्ण विकास की स्थिति तक पहुंच सकती है। सम्यक् दृष्टि का अर्थ है अपनी चेतना का निर्मलीकरण। इसका सम्बन्ध किसी बाहरी वस्तु से नहीं वह तो हमारी चेतना की परिणति है। जब तक चेतना का परिष्कार नहीं होता सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी प्रिय और अप्रिय के प्रति तटस्थ बना रहना, दृष्टि सम्पन्न होना सम्यक् दृष्टि है। जिसकी आस्था इष्ट के प्रति हो, "मुझे अर्हत् बनना है" ऐसा संकल्प हो, अर्हत् बनने की साधना में जो लगा है वह हमारा गुरु है ऐसी उसकी मान्यता हो, अर्हन् व वीतराग के द्वारा प्रवर्तित तत्त्व ही धर्म है यह स्वीकार करता हो, वही व्यक्ति सम्यक् दृष्टि वाला होता है।

सम्यग् दृष्टि पाने के लिए व्यक्ति में पांच लक्षण होना आवश्यक है :—

> आस्तिक्यं जायते पूर्वमास्तिक्याज्जायते शमः।
> शमाद् भवति संवेगो, निर्वेदो जायते ततः॥
> निर्वेदादनुकम्पायाश्चैतानि मिलितानि च।
> श्रद्धायाः लक्षणानि, जायन्ते सम्यग्वेदिनः॥

पहले आस्तिक्य (आत्मा, कर्म आदि में विश्वास) होता है। आस्तिक्य से शम (क्रोध आदि कषायों का उपशम) होता है। शम से संवेग (मोक्ष के प्रति तीव्र अभिरुचि) होता है। संवेग से निर्वेद यानि वैराग्य होता है। वैराग्य के तीन प्रकार हैं:— संसार वैराग्य, शरीर वैराग्य और भोग वैराग्य। निर्वेद से अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा यानि कृपा भाव; सर्वभूत मैत्री – आत्मोपम्य भाव – प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा। मैत्रीभाव, मध्यस्थता, शल्यवर्जन और वैर वर्जन ये अनुकम्पा के अन्तर्गत हैं। जो समग्र प्राणियों के प्रति अनुग्रह है, उस अनुकम्पा की दया जानना चाहिये। ये सब सत्यसेवी श्रद्धावान् (सम्यक् दृष्टि) के लक्षण है।

नवही पदार्थ श्रद्धे यथातथ्य, तिण ने कही जे सम्यक्त्व निधान।
पछे त्याग करे ऊंधा सरधण तणा, ते सम्यक्त्व संवर प्रधान॥

विपरीत श्रद्धान का त्याग करना सम्यक्त्व सवर है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी त्याग किये बिना सम्यक्त्व-संवर नही हो सकता। सम्यक्त्वी के पाँच भूषण होते हैं। –

१. स्थैर्य—तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म में स्वयं स्थिर रहना और दूसरों को स्थिर करने का प्रयत्न करना।
२. प्रभावना—धर्म शासन के बारे में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना और उसके महत्व को प्रकाश में लाना।
३. भक्ति—धर्म-शासन की भक्ति या बहुमान करना।
४. कौशल—तीर्थंकर द्वारा कथित तत्त्वों को समझने और समझाने में निपुणता प्राप्त करना।

५. तीर्थ-सेवा—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका ये चार तीर्थ है उनकी यथोचित सेवा करना।

सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए पाँच सिद्धान्तों का जानना आवश्यक है :—

१. आत्मा है।
२. आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है।
३. आत्मा अपने कर्मों की कर्त्ता है।
४. आत्मा अपने कृत कर्म-फल को भोगती है।
५. आत्मा कर्म-मल से मुक्त होती है।

सम्यक्त्व की पहचान :—

१. भेद विज्ञान – जड़ चेतन की भिन्नता का बोध।
२. आत्मौपम्य बुद्धि – सब को आत्म तुल्य समझना।
३. आग्रह की अल्पता – सत्य के प्रति सहज दृष्टि।
४. क्रोधादि कषायों की अल्पता – समभाव।
५. पाप भीरुता – पापात्मक प्रवृत्तियों में सतत जागरूकता।

सम्यक्त्व के दूषण :—

१. शंका – वीतराग के प्रवचनों में संशय अथवा सत्य के प्रति संदेह।
२. कांक्षा – सत्य के विपरीत दृष्टिकोण के प्रति अनुरक्ति।
३. विचिकित्सा – सत्य पूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता अथवा धर्म के फल (परिणाम) में संदेह।
४. पर पाखण्ड प्रशंसा – सत्य के प्रति [illegible] प्रशंसा।
५. पर पाखण्ड परिच[illegible] परिचय।

सम्यक्त्वी की साधना भोग प्रधान नहीं होती बल्कि त्याग प्रधान होती है। इन्द्रिय और विषयों के संयोग से प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने से "पर" कहलाते हैं। इन सुखों की आकांक्षा किये जाने वाले व्रत "पर पाखण्ड" हैं। आचार्य हरिभद्र ने पाखण्ड शब्द का अर्थ व्रत लिया है। ऐसे व्रत स्वीकार करने वाले "पर पाखण्डी" कहलाते हैं। सम्यक्त्वी आत्म-दर्शन चाहता है। वह न तो पर पाखण्ड व्रतों को स्वीकार करता है और न पर पाखण्डी की प्रशसा या परिचय करता है।

सम्यक्त्व से प्रारम्भ हो, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र से गुजरती हुई, आत्मा की पहले गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक की जो यात्रा है, उसकी तुलना धरातल से किसी पहाड की चोटी तक पहुंचने से की जा सकती है। जिस तरह चोटी तक पहुँचने के लिए धरातल से अनेकों जगहों से शुरू हुआ जा सकता है, उसी प्रकार मुक्ति-शिखर तक पहुँचने के लिए आत्मा के लिए अनेक आरम्भ विन्दु हो सकते हैं जैसे सतुगुरु के प्रति श्रद्धा, अन्तर्निहित पौरुष, किसी घटना के संयोग से सम्यक्त्व की उपलब्धि अथवा कोई और कारण।

इस दुरूह यात्रा में आत्मा किसी ऊँचाई से गिर भी सकती है जैसे असावधानीवश पहाड़ से आदमी गिर सकता है। अतः चोटी को प्राप्त करने के लिए सतत जागरूकता और प्रयास अनिवार्य है।

संदर्भ :— १. युवाचार्य महाप्रज्ञ—"संबोधि" पृष्ठ १
२. जयाचार्य—"नव पदार्थ-संवर ढाल"—गाथा ६
३. साध्वी राजमति—"ज्ञान किरण"—पृष्ठ ३४
४. मुनि श्रीमल्ल—"साम्यग्दर्शन—मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ २८७

व्रत (abstenance from evils)

दूसरा मालिन्य या आस्रव अव्रत है उसको दूर करने के लिए व्रत यानि प्रत्याख्यान करना (हिंसा, असत्य आदि पाप कार्यों का त्याग करना) परिग्रह को सीमित करना (सीमा में बंधना), अनासक्त रहना आवश्यक है। उसमें व्यक्त और अव्यक्त आशा का त्याग करना पड़ता है।

अप्रमाद (alertness)

व्रत के बाद अप्रमाद तीसरा मालिन्य या आस्रव प्रमाद है उसको दूर करने के लिए अप्रमाद का अभ्यास करना यानि हर कार्य में जागरूक रहना या सावधानी बर्तना आवश्यक है।

> प्रमादेन च योगेन, जीवऽसौ बध्यते पुनः।
> बद्धकर्मोदयेनैव, सुखं दुःखञ्च लभ्यते॥

प्रमाद और योग से जीव पुनः कर्मों से आबद्ध होता है और बंधे हुए कर्मों के उदय से वह सुख दुःख पाता है।

> शरीरं जायते बद्ध जीवात्, वीर्य ततः स्फुरेत।
> ततो योगो हि योगाच्च, प्रमादो नाम जायते॥

कर्म-बद्ध जीव के शरीर होता है, शरीर में वीर्य (सामर्थ्य) स्फुरित होता है। वीर्य से योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) और योग से प्रमाद उत्पन्न होता है। आत्म-प्रदेश स्थित अनुस्मार का क्षय हो ऐसा अभ्यास करना चाहिये।

प्रमाद आस्रव ने कषाय योग आस्रव, ये तो नहीं मिटे बिना प्रयत्न।
ये तो सहज मिटे छे कर्म अलग हुवा, तिण रो अन्तरङ्ग कीजो परिखण॥

कर्म-बन्धन का कारण आस्रव के अलावा कषाय भी हैं। यदि जीव में कषाय की प्रबलता होती है तो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र अशुभ फल देते हैं। कषाय के मन्द होते ही कर्मों की स्थिति कम और फल शक्ति मन्द हो जाती है। निर्जरा अधिक होती है और पाप व पुण्य का बन्धन भी शिथिल होता जाता है। इस तरह राग-द्वेष कषाय यानि क्रोधादि विकारों से निवृत्ति तथा अयोग यानि शरीर मन और वाणी की क्रियाओं से मुक्ति ये सब मोक्ष प्राप्त करने के उपाय हैं।

वढ़ता ही बढ़ता गयो तन का मन का रोग।
राग द्वेस ज्यूं ही छुट्यां हुइग्यो सहज निरोग।

संवर द्वारा कर्म-बन्धन की पूरी रोक हो जाती है और निर्जरा द्वारा पूर्व संचित समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और जीव के स्वाभाविक गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य अपनी परिपूर्ण अवस्था में प्रकट होते हैं। यही मोक्ष है व जीव की परमात्म प्राप्ति है।

संदर्भ :—१. जयाचार्य, "नवपदार्थ ढाल 1 गाथा 3"
२. दूहाधर्म रा, "विपश्यना" दि. २०-४-८३
३. युवाचार्य महाप्रज्ञ, "सम्यग् दृष्टि" जैन भारती दि. २४-४-८३

संवर (Arrest of the influx of Karmas)

कर्मों से मुक्त होने का सब से बड़ा सूत्र है संवर और फिर निर्जरा।

> निरोधः कर्मणामस्ति, संवरो निर्जरा तथा।
> कर्मणां पक्षयश्चैवोपादेय - दृष्टिरिष्यते॥

कर्मों का निरोध करना संवर कहलाता है और कर्मों के क्षय से होने वाली आत्म - शुद्धि निर्जरा कहलाती है। यह उपादेय दृष्टि है।

"आस्रव निरोध संवरः" आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। संवर आस्रव का विरोधी तत्त्व है। आस्रव कर्म-ग्राहक अवस्था है और संवर कर्म-निरोधक।

> पुद्गलानां प्रवाहो हि, नैष्कर्म्येण निरुध्यते।
> त्रुटयन्ति पाप-कर्माणि, नवं कर्म न कुर्वतः॥

पुद्गलों का जो प्रवाह आत्मा में प्रवाहित हो रहा है वह नैष्कर्म्य (संवर) से रुकता है। जो नये कर्म का संग्रह नहीं करता, उसके पूर्वसञ्चित पाप-कर्म का बन्धन टूट जाता है।

शरीर की प्रवृत्ति का निरोध, प्रकम्पनों का निरोध, बाहर के परमाणुओं को भीतर आने से रोकना संवर है। मनोनुशासन या आत्मोन्मुखता ही संवर है। संवर के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति में प्रवृत्त हो जाते हैं। जब अपने अस्तित्व का बोध या चैतन्य का अनुभव हमारे हृदय में जाग्रत हो जाता है तब वह संवर का रूप धारण कर लेता है। संवर मोक्ष का हेतु है।

सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर के मुख्य भेद हैं।

संवर कैसे हो? हम शुद्ध आचरण करे, चारित्रवान बनें, इन्द्रियों का, मन का व वासनाओं का संयमन करें। यह सब संवर की प्रक्रिया है। संवर का अर्थ दमन नहीं, नियमन है। अपने जीवन को नियमित करना है। सात्विक जीवन जिसमें सत्य, सदाचार, विश्व बन्धुत्व की भावना निहित हो वह संयम हैं। इसमें प्राथमिक अभ्यास की दृष्टि से व्यक्ति को अपनी अशुभ प्रवृत्तियों का संवरण करना होता है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह की विरति को संयम कहा है और उनकी प्रवृत्ति असंयम है। जितने अंशों में इनका त्याग होता है उतने ही अंशों में सयम की प्राप्ति होती है और जितना अत्यागभाव है वह असंयम है। यह सब संवर की प्रक्रिया है। महाव्रत और अणुव्रत की साधना अशुभ प्रवृत्ति की विरति की साधना है। जैसे जैसे साधक आगे बढ़ता है सामायिक, समता, संवर आता है और इन्द्रिय और मन के निरोध करने में कुशल होता चला जाता है। एक क्षण आता है कि वह बाहर से सर्वथा शून्य, बेहोश तथा अन्दर से पूर्ण सचेतन होता है। वही क्षण वास्तविक संयम है। वही क्षण स्वात्मोपलब्धि का है।

प्रायश्चित के तीन क्षण हैं:-अतीत, वर्तमान और भविष्य। अतीत का प्रतिक्रमण होता है, भविष्य का प्रत्याखान और संवर वर्तमान का क्षण होता है। प्रायश्चित के समय जिसने अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान किया तो उसके लिये बीच का यानि वर्तमान का जो क्षण है उसमें अपने आप संवर हो जायगा।

भगवान् महावीर ने भी संवर को ही साधना का मुख्य अंग माना और अपने स्वयं के जीवन में उतारा। उन्होंने निरालंब साधना को ही प्रमुखता दी थी। उन्होंने कहा, "संवर करो" सब से पहिले अपनी शारीरिक स्थिरता से शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करो। शरीर के द्वारा ही कर्म-पुद्गल आकर्षित होते हैं, उनका आकर्षण रोकना है। हमें शरीर के प्रकम्पनों का निरोध करना है। जैसे कमरे को बाहरी धूल से बचाने के लिये सर्व प्रथम खिड़कियों व दरवाजों को बन्द किया जाता है वैसे ही कर्म के बन्धन को रोकने के लिये संवर का सहारा लिया जाता है। सब से पहिले काया का संवर आवश्यक है। मन और वाणी ये दोनों अपने आप नहीं चल सकते और ये दोनों काया के द्वारा ही भेदन बुद्धि से भेदित हैं। सारी गति काया से नियोजित है। यह शरीर ही मन व वाणी के पुद्गल ग्रहण करता है। प्रवृत्ति का मूल स्रोत शरीर है। इसलिए शरीर की प्रवृत्ति का निरोध प्रमुख है।

जब हम स्थूल शरीर को शान्त, स्थिर, निष्क्रिय और प्रवृत्तिहीन बना देते हैं तो कर्म-शरीर प्रकंपित हो जाता है। कर्म-परमाणु टूटने लग जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? कारण यह है कि यह स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के पोषण के लिये सारी सामग्री खींचता है और सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीर, मन व वाणी की प्रवृत्ति के सहारे टिका है। यदि प्रवृत्ति के तीनों स्रोत बन्द हो जाय यानि स्थूल शरीर शान्त, स्थिर, निष्क्रिय और प्रवृत्तिहीन बन जाय तो सूक्ष्म शरीर को पोषण नहीं मिल सकता और फलस्वरूप उसका विनाश हो जाता है। शरीर, वाणी और मन चंचल है तब ही सूक्ष्म शरीर टिक रहा है। भगवान् महावीर ने इसलिए मूल बात को पकड़ा और कहा कि काये

अस्तित्व तक पहुँचना है तो सबसे पहले शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करना होगा और यही है संवर की साधना।

यह स्पष्ट है कि स्थूल शरीर की प्रवृत्ति का निरोध किये बिना यह सूक्ष्म शरीर व्यक्ति को अपने अस्तित्व तक नहीं पहुंचने देता। भगवान् महावीर का लक्ष्य था आत्म – साक्षात्कार। उन्होंने प्रथम वाह्य शरीर के सहारे ध्यान स्थागित किया। वहां से चेतना को हटा कर कर्म – शरीर में लगाया और फिर वहाँ से आत्मा में। भगवान् महावीर सोलह दिन तक रात दिन लगातार खड़े रहे। मच्छरों ने काटा तो हटाया नहीं। वे ध्यान की अनुभूति में इतने लीन हो जाते कि उन्हे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी का भान ही नहीं रहता। इस तरह साधना करते करते भगवान महावीर के कर्मो के वृन्द के वृन्द टूटने लगे और एक दिन ऐसा आया कि वे वीतराग बन गये, केवली हो गये आत्म-साक्षात्कार कर लिया, सर्वज्ञ – समदर्शी बन गये। इस तरह सवर की साधना करने से नये कर्मो का बन्धन रुक जाता है, कषायों का अल्पीकरण होता है और पूर्व संचित कर्मो का निर्जरण होता है।

सहजं निरपेक्षञ्च, निर्विकारमतीन्द्रियम्।
आनन्दं लभते योगी, वहिरव्यापृतेन्द्रियः॥

जिनकी इन्द्रियों का वाह्य पदार्थों में व्यापार नहीं होता, वह योगी सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त होता है।

गीता में भी इसी तरह का उल्लेख है :—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

जिसने आत्मा और मन पर विजय पा ली है वह परमात्मा तक पहुँच गया है और उसने शान्ति पा ली है; ऐसे व्यक्ति के लिए सुख - दुःख, ग्रीष्म - शीत, मान - अपमान सब बराबर है ।

संत विनोबाजी का गीता प्रवचन एक अनूठा विवेचन कहा जाता है । उन्होंने भी साधना का क्रम ऐसा ही बताया है, "तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य यह है साधना का क्रम" । चित्त शुद्धि के अनुपात में क्रिया तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य हो जाती है ।

निर्जरा (Fxhaustion of Karma)

आत्मा पर कर्मों का आवरण आ जाने से मनुष्य सच्चे सुख का रास्ता भूल जाता है और शरीर के प्रति उसका ममत्व हो जाता है । उस ममत्व को दूर करने के लिए कर्मों से मुक्त होना हमारा लक्ष्य है और मुक्त होने के लिए हमारा दूसरा बड़ा सूत्र है "निर्जरा" ।

"तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा" तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने से जो आत्म - उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं । निर्जरा का अर्थ है, जिससे जरा न हो, बुढ़ापा

संदर्भ :—गुरुदार्य महाराज, 'ज्योति'

न हो, जिसमें अवस्थागत बुढ़ापा न आए, वह है निर्जरा। मौत सामने हो तो भी प्रसन्न रहे, यही निर्जरा है।

संवर का हेतु निरोध है, निवृत्ति है। निर्जरा का हेतु प्रवृत्ति है। संवर के साथ निर्जरा अवश्य होती है, सवर के बिना भी निर्जरा होती है। उपवास में आहार करने का जो त्याग है वह संवर है। उपवास में शारीरिक कष्ट होता है, शुभ भावना होती है, शुभ प्रवृत्ति है, उससे कर्म - निर्जरण होता है और आत्मा उज्ज्वल होती है। अत: यह सवर के साथ होने वाली निर्जरा है। एक व्यक्ति भोजन करने का त्याग किये बिना ही आत्मा - शुद्धि के लिए भूखा रहता है, वह भी निर्जरा है। निर्जरा शुभ - प्रवृत्ति - जन्य है चाहे वह सवर के साथ हो या उसके बिना हो।

उदीर्णां वेदना यश्च; सहत समभावत:
निर्जरा कुरुते काये, देहे दु खं महाफलं ॥

जो व्यक्ति कर्म के उदय से उत्पन्न वेदना को सम भाव से सहन करता है उसके कर्मों की अत्यधिक निर्जरा होती है क्योंकि शरीर में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महान् फल का हेतु है।

निर्जरा के दो प्रकार हैं—सकाम और अकाम। आत्म – विशुद्धि के लक्ष्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है और आत्मविशुद्धि के लक्ष्य के बिना की जाने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है। इस संदर्भ में गीता का निष्काम कर्म और भगवान महावीर की सकाम निर्जरा – दोनों समान महत्व के हैं। किसी कामना से जुड़ी हुई कोई भी प्रवृत्ति सकाम निर्जरा में परिगणित नहीं होती। गीता में 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते माफलेषु

कदाचन' तुम्हारा कर्म करने का अधिकार है, पर फलाकांक्षा का तुम्हें अधिकार नहीं है – कह कर भगवान श्री कृष्ण ने व्यक्ति को कर्म करने की खुली छूट दी है। उसका वैशिष्ट्य यही है कि वह कर्म निष्काम हो। जैन दर्शन निष्काम भाव से किये जाने पर भी उपेक्षित (अवांछनीय) कर्म को नियन्त्रण करने का परामर्श देता है।

निर्जरा कर्मों की होती है – यह औपचारिक सत्य है। वस्तु – सत्य यह है कि वेदना की अनुभूति होती है निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म - परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है फिर निर्जरा नहीं होती।

"सामान्यतः लोगों की एक धारणा है कि मनुष्य को अकर्मण्य नहीं होना चाहिये। कुछ न कुछ करते रहना चाहिये यही जिन्दगी है। यही जीवन है। जिस दिन कर्म छूट जायेगा, उस दिन जीने का उल्लास भी छूट जायेगा। किन्तु यह धारणा उन लोगों की हो सकती है, जिन्होंने अन्तर्मुखी होने का अभ्यास नहीं किया। इस मान्यता का समर्थन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जो ध्यान की भूमिका से गुजरे न हों। ध्यान साधना व्यक्ति को निष्कर्म रहने की प्रेरणा देती है। मन, वाणी और शरीर की स्थूल क्रियाओं का निरोध ध्यान का प्रथम बिन्दु है। इस स्थिति में पहुँचने वाला ही मोक्ष को पा सकता है।"

"स्वयं भगवान महावीर साढ़े बारह वर्ष तक साधना में संलग्न रहे। उस अवधि में उन्होंने न किसी को उपदेश दिया, न कोई प्रवचन। उस समय वे किसी के साथ बात करना भी नहीं चाहते थे। बहुत बार न बोलने के कारण उन्हें कई प्रकार की यातना सहनी पड़ी। वे सब कुछ सहते रहे, [illegible]

एक शब्द भी नही बोलते थे । जब कभी वे बोलते तो आत्म शोधन की दृष्टि से ही बोलते थे । वे अधिकांश ध्यान में रहते थे। ध्यान की अवस्था में चाहे मच्छर काटे, चाहे बिच्छु या सांप, चाहें आग की लपटें उनके शरीर को भुलसादें, वे एक क्षण के लिये भी ध्यान में विचलित नहीं हुए। साधारणतया ये बाते समझ में आने जैसी नहीं है, फिर भी इन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। निष्काम कर्म का इससे बढ़कर कोई उदाहरण नहीं हो सकता। जिस कर्म में अपनी दैहिक आसक्ति और परिकर्म भी छूट जाते है, वहाँ कोई कामना रह ही कैसे सकती है ? वैसी अवस्था में ही निष्कामता पुष्ट होती है।"

"निष्काम कर्म का परिणाम अध्यात्म है। अध्यात्मवादी व्यक्ति ही इस दृष्टिकोण को विकसित कर सकते हैं। भौतिक वादी व्यक्ति तो अनेक प्रकार की कामनाओं से घिरा रहता है उसकी एक कामना पूरी होती है, चार दूसरी उभर आती है। अगर इन कामनाओं का संयम कर लिया जाय तो कई समस्याएं स्वयं समाहित हो सकती हैं। सामान्य जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह ये चार कषाय कर्मरूपी शत्रु के प्रेरक हेतु होते हैं। ये ही नरक के प्रत्यक्ष द्वार हैं। इनसे मुक्त होना ही अपने लिये मोक्ष के द्वार खुलवाना है।"

निष्काम कर्म से कषाय मुक्ति सम्बन्धित विचार जो "गीता" पर आधारित हैं, वे भी प्रेरणादायक है :—

"ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का नाम कर्मयोग है। निष्काम कर्मो का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध होने से आत्मा का ज्ञान हो जाता है। आत्मा का ज्ञान होने से भोगों की आसक्ति निवृत्त हो जाती

है; भोगों की आसक्ति निवृत्त होने से वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है; वासनाओं की निवृत्ति होने से अधिकारी का संसार निवृत्त हो जाता है। संसार निवृत्त हो जाने से अधिकारी एक ईश्वर की शरण लेता है; ईश्वर की शरण लेने से सब धर्म-अधर्म छूट जाते है क्योंकि समस्त धर्म देह के है; आत्मा का कोई धर्म नही है। सभी धर्माधर्मों के छूट जाने से जिस प्रकार आंख सर्वत्र रूप को देखती है, उसी प्रकार अधिकारी की बुद्धि की वृत्ति सर्वत्र ब्रह्म आत्मा को ही विषय करती है। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही निरन्तर मुक्ति के सुख का अनुभव करता है; जीवन मुक्त हो जाता है और शरीर त्यागने के पीछे विदेह मुक्ति के सुख का अनुभव करता है।"

'निष्काम कर्म योग, जो भारतीय दर्शन का चरम उत्कर्ष माना गया है, निर्जरा का ही रूप है। गीता के अनुसार निष्काम कर्म योग तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त उपलब्धियां विरक्त संन्यासियों के जीवन में ही नही; वरन श्री कृष्ण जैसे राजनीतिक की महान सफलताओं में भली भांति परिलक्षित होती है। हमारे देशवासी उसे भुला कर स्वार्थ लिप्सा तथा भौतिक चकाचौंध की मरीचिका में जब से भटक गये, तभी से हमारा राष्ट्रीय पतन प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रीय पुनर्निमाण के इस युग में सांस्कृतिक व आध्यात्मिक पुनः निर्माण के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी क्योंकि बिना आध्यात्मिक आधार लिये के हमारा कोई भी निर्माण न सफल होगा और न स्थायी ही होगा।"

निर्जरा सविपाकी भी होती है और अविपाकी भी। कोई फल डाली पर पक कर टपकता है और किसी फल को असमय पाल में पकाया जाता है। पकते दोनों है-किन्तु पकने की प्रक्रिया दोनों की

भिन्न है। जो सहज गति से पकता है उसका परिपक्व काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है उसका परिपक्वनकाल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी तरह होता है। निश्चित काल - मर्यादा से जो कर्म परिपाक को प्राप्त होता है उसकी निर्जरा को विपाकी निर्जरा कहते हैं। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिये कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसलिये इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म। निश्चित काल मर्यादा से पहले शुभ योग के व्यापार से या तपस्या से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ प्रयत्न या तपस्या आदि है।

निर्जरा के बारह भेद :—

स्वरूप की दृष्टि से निर्जरा एक ही प्रकार की है परन्तु तपस्याओं के भेद से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है। इसलिए निर्जरा व तप एक ही है। तैजस और कार्मण शरीर के उत्ताप के लिए तप का आलंबन आवश्यक होता है। जैन साधना में तप के द्वारा शरीर को कसने का विधान है। आज तप का अर्थ शारीरिक कष्ट बन गया है पर उसका उपयोग

संदर्भ :—१ आचार्य तुलसी, "निष्काम कर्म और अध्यात्मवाद"
२ स्वामी भोलेनाथजी महाराज, "निष्काम कर्म से कषाय मुक्ति"
३ श्री गणपतिराव देवजी तपासे, "निष्काम कर्मयोग निर्जरा" (कल्याण विशेषांक १९९१)
४ युवाचार्य महाप्रज्ञ, "जीव अजीव"

शरीर और मन को साधना के योग्य बनाने में होना चाहिये। तप में अगर मन का साथ नहीं मिलता है तो शरीर से किया हुआ तप काय – क्लेश मात्र ही रह जाता है। शरीर से मन की शक्ति विशेष होने से बाह्य तप से मानसिक (आभ्यंतर) तप को अधिक महत्व दिया गया है। तप के द्वारा स्थूल व सूक्ष्म शरीर के परमाणु उत्तप्त होते हैं और अपनी मलिनता छोड़ कर निर्मल बनते हैं। बिना ताप के कोई वस्तु नहीं पिघलती। बर्फ के पिघलने के लिए भी कुछ न कुछ ताप आवश्यक होता है। इसी प्रकार जो मल शरीर से चिपका हुआ है उसे पिघला कर दूर करने के लिए बाह्य व आभ्यन्तर तप ही एकमात्र साधन है। तपस्या करने से पूर्व-संचित कर्म-मल भी क्षीण होते हैं। जब कर्म-मल क्षीण होते हैं तब चंचलता विच्छिन्न होती है। जब चंचलता शान्त होती है तब सिद्धि प्राप्त होती है या मोक्ष मिलता है। इसलिए साधना की सफलता तपस्या से ही सम्भव है।

भगवान महावीर ने तप के बारह सूत्र बतलाये हैं। प्रथम छः बाह्य तप हैं और अन्तिम छः आंतरिक तप हैं।

१. अनशन (temporary or life long) :—अन्न, पान, खाद्य व स्वाद्य ये चार आहार हैं। इनमें से तीन या चार आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन कम से कम एक दिन - रात का और ज्यादा से ज्यादा छः मास तक का होता है। सामान्यतया मनुष्य जरूरत से ज्यादा ही खाता है इसलिए उसे उपवास करना आवश्यक हो जाता है। उपवास के दौरान पाचन में लगने वाली शारीरिक शक्ति बचा कर आत्म - चिन्तन में लगाई जा सकती है। इसी कारण उपवास को आत्मा के

निकट वास करना माना गया है। आवश्यकता पड़ने पर आहार का सर्वथा पूर्ण त्याग आजीवन भी हो सकता है। जैसे वीर पुरुष बिना कष्टों की परवाह किये संग्राम के लिए निकल पड़ता है और मौत से आँख मिचौनी खेलता हुआ समरांगण की अग्रिम पंक्ति में जा कर खड़ा हो जाता है वैसे ही मुनि कर्म - कटक के साथ युद्ध करने के लिए अनशन जैसे महासमर में उतर जाता है। उसी ओर संकेत कर रही हैं जयाचार्य की ये मार्मिक पंक्तियाँ :—

सूर चढ़े संग्राम में तिम मुनि अणसण मांय।
कर्म रिपु हणवा भणी शूरवीर अधिकाय॥

अनशन से सम्बन्धित राष्ट्र संत विनोबा भावे की अन्तिम जीवन यात्रा का वर्णन बहुत महत्वपूर्ण है। "८७ वर्ष का जीवन व्यतीत कर विनोबा भावे दीपावली की सुबह अपने पार्थिव अस्तित्व से मुक्त हो गये। यह विनोबा की इच्छा मृत्यु थी, जिसके लिए उन्हें सदा याद किया जाएगा। प्राणों से बड़ा कोई मोह नहीं होता, लेकिन विनोबाजी ने अपने प्राण संकल्प शक्ति पूर्वक, सात दिन की साधना के बाद पूरी चेतना रहते हुए वीतराग की तरह त्याग दिये। जिस तरह अनेक जैन साधु साध्वी व श्रावक श्राविका संथारा किया करते हैं उसी तरह विनोबाजी की मृत्यु भी एक उच्च कोटि की मृत्यु मानी जाती है।"

२. ऊनोदरी (Reduction in the volume of diet) :—(अवमोदर्य) "अल्पत्वमूनोदरिका" आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि को कम करना द्रव्य ऊनोदरी और कषाय, आदि को कम करना भाव ऊनोदरी है। जितनी मात्रा में भोजन करने

की गयी है, उससे कम खाना, पेट को कुछ भूखा रखना ऊनोदरी है। इस संबंध में तेरापंथ के आद्याचार्य संत भीखनजी ने लिखा है "ऊनोदरी ए तप करवो दोहिलो, वैराग्य बिना होवे नहीं" ऊनोदरी करना कठिन तप है, उसके लिये वैराग्य विरक्ति चाहिये। भोजन के लिये बैठ कर अपने पेट को थोड़ा खाली रखना, पूर्ण से पहिले ही अपने को संकुचित कर लेना, सरल नहीं है। उपवास सरल हो जाता है किन्तु ऊनोदरी कठिन। स्वास्थ्य की दृष्टि से परिमित भोजन करना एक महत्व रखता है क्योंकि आवश्यकता से अधिक भोजन करने से शरीर में विकृति की दशा पैदा होती है। हमारा किया हुआ भोजन उतना ही पचता है जितना उसे पाचन रस मिलता है, शेष व्यर्थ जाता है। कई आदमी अनावश्यक वस्तुएं चट्ट खाते हैं। उसके पीछे देश-गत, परम्परागत, समाजगत कारण या भोजन के ज्ञान के अभाव का भी एक कारण हो सकता है। अनावश्यक भोजन करने से शरीर में विकृति की दशा पैदा होती है और मल नालों में जम जाता है। उनसे सारा नाड़ी मंडल दूषित हो जाता है। शरीर, मन और साथ ही विचार भी दूषित हो जाते हैं। इस प्रकार अधिक भोजन किया हुआ आदमी स्वस्थ चिंतन नहीं कर पाता। चेतना पर अस्वस्थता का आवरण चढ़ जाता है। साधना में बाधा आ जाती है। ऊनोदरी तप के फल यह है :—

१. इन्द्रियों की स्वेच्छाचारिता मिट जाती है।
२. संयम का आचरण होता है।
३. दोषों का प्रशमन होता है।
४. संतोष की वृद्धि होती है।
५. स्वाध्याय की सिद्धि होती है।

३. भिक्षाचरी या वृति संक्षेप (restriction in seeking alms i. e food and drink etc) :— मनुष्य स्वादवश जो जरुरत से अधिक खा लेता है उसके लिये खाने की वस्तुओं का सक्षेप करना आवश्यक है। इसके लिए अभिग्रह किया जाता है। जैसे व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक पदार्थ मिले तो आहार करना वरना नहीं। अमुक व्यक्ति दे तो लेना वरना नहीं। आहार विषयक संकल्प यानि खाने के विविध प्रयोग करने होते हैं। भोजन करने से उर्जा उत्पन्न होती है परन्तु वह केवल शरीर यंत्र का संचालन मात्र कर सकती है या शरीर की कोशिकाओं को सक्रिय बनाती है। भूखा रहने से भी उर्जा उत्पन्न होती है। तपस्या और संकल्प से जो उर्जा उत्पन्न होती है वह सूक्ष्म होती है और वह चेतना के क्षेत्र में विस्फोट करने के लिये अपेक्षित है। यह आभ्यान्तरिक प्रयोग है। तपस्या के दौरान अगर पानी नही लिया जाए तो अधिक उर्जा उत्पन्न होती है।

४. रस परित्याग (renunciation of delicious dishes) :—रस परित्याग यानि छः विगय का त्याग। छः विगय हैं :— दूध, दही, घी, तेल, शहद-गुड़-शक्कर आदि तथा मिष्ठान। जो चीजें तेल घी में तली भुनी जाती हैं या दूध-दही-चीनी आदि के साथ मिलकर बनाई जाती हैं वे सब कड़ाही विगय मानी जाती है, फिर चाहे वे कड़ाही में बनाई जॉय या तवे पर। यही आयम्बिल तप है। इससे जिव्हेन्द्रिय (रसनेन्द्रिय) पर संयम होता है। जिस व्यक्ति को जिव्हा का स्वाद लेना है, जो व्यक्ति अपने मन और मस्तिष्क को विकृत करना चाहता है, वही भोजन के प्रति लापरवाह बन सकता है। जिस व्यक्ति का यह ध्येय हो कि

मुझे अपने मस्तिष्क से बहुत काम लेना है, सुप्त शक्तियों को जागृत करना है और उनसे भी कोई न कोई काम लेना है और दुनिया में कोई न कोई बड़ा काम कर दिखाना है, वह व्यक्ति भोजन के प्रति लापरवाह नहीं रह सकता। जिह्वा का स्वाद उसके लिए गौण वस्तु है। उसके लिए मुख्य बात है शरीर का पोषण कर उसे बनाये रखना, उसके लिए वह भोजन करता है न कि रसना के लिए। यह चार तप भोजन से सम्बन्धित तप है और स्थूल शरीर के माध्यम से होते हैं और निर्जरा के हेतु हैं।

५. काया क्लेश (Mortification of flesh) :— योग सम्बन्धी आसन आदि का प्रयोग करना तथा शरीर के ममत्व का त्याग करना। सर्दी, गर्मी, वेदना को समभाव से सहन करना। शरीर को साध लिया जाय, कि हम इतने कष्ट-सहिष्णु बन जायें, आसन व्यायाम आदि से इतनी शक्ति पैदा कर लें कि कैसी भी स्थिति सम्मुख आये तो भी शरीर उसे झेल सके। गर्मी को सहने से अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। ऊर्जा को उत्पन्न करने, ऊपर ले जाने और उसका व्यय न करने का उपाय है शरीर को प्रवृत्ति कम करना और शरीर को अधिक समय तक स्थिर रखना। यह पांचों सूत्र देहासक्ति से मुक्त होने के हैं।

६. प्रतिसंलीनता(Living and sleeping in unfrequented and isolated places) :— इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना। जिस रास्ते से इन्द्रियां (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन) बाहर जाने का प्रयत्न करती है उसे बन्द करना है। मार्गान्तरीकरण करना है। उन्हें भीतर की ओर प्रवाहित करना है। मन जो बाहर भटकने का प्रयत्न करता है उसे भी अन्तर्मुखी

बनाना है। यह भीतर प्रवेश की क्रिया है। इसलिए साधक ऐसे स्थान में रहे जहां का वातावरण और परिस्थिति साधना के लिए अनुकूल हो यानि उसका एकान्त में रहना आवश्यक है।

प्रेक्षा ध्यान में कहा जाता है कि शरीर को देखो। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के भीतर जो प्रकंपन हो रहे हैं उन्हें देखना। इन्द्रियों की शरीर के भीतर की ओर न होकर बाहर को ओर देखने की जो हमारी आदत है उसे बदलना है। दूसरे शब्दों में अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है बाह्य दृष्टि की नहीं। यह प्रेक्षा की क्रिया या देखने की क्रिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो कर्म-बन्ध के द्वार हैं यानि आस्रव है वे ही संवर के द्वार हैं। दर्शन की प्रक्रिया से हम कर्मों के आगमन के द्वारों को बंद करते हैं। यह बात भी सही है कि इन्द्रिय विषयों को पूर्णतया रोका नहीं जा सकता परन्तु अगर उनके प्रति हमारी प्रियता या अप्रियता का भाव नहीं जुड़ता तो कर्म-बन्धन काफी रुक जाता है। यह छह सूत्र बाह्य तप हैं। ये प्रायः बाह्य शरीर को तपाने वाले हैं अतः आत्म शुद्धि के बहिरंग कारण है।

७. प्रायश्चित (expiation of sins or to bid good bye to unwholesome activities & resent to wholesome ones) :—मन में विचार आते ही रहते हैं। अनुचित कार्य से मलिन आत्मा को शुभ प्रवृत्ति के द्वारा विशुद्ध करना। ज्यों ही मन में विचार आया तत्काल उसको साफ कर देना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जाय, अपनी जागरूकता नहीं रखी, उस विचार को दूर न करके पल्ले बांध लिया तो कर्म रूपी मल की गांठ बंध जायगी। ज्यों ही विचार आया त्यों ही उसका प्रक्षालन कर देना चाहिये, उसे धो डालना चाहिये, तो

जो कर्म-परमाणु आएंगे वे टूट जाएंगे। इस तरह प्रायश्चित करते रहने से मन में कर्म रूपी गांठ नहीं बंधती। जैन दर्शन में प्रतिक्रमण करना इसीलिए आवश्यक बतलाया गया है।

मनुष्य सावधान होकर अपने दैनिक कार्यों का निरीक्षण करें, जाने या अनजाने होने वाली भूलों की आलोचना कर वैसी भूलें फिर से न हो इसके लिए संकल्प करें। आत्म-विकास की साधना के लिए ऐसा संकल्प उपयोगी होता है।

८. विनय (modesty or humility):—मानसिक, वाचिक व कायिक अभिमान का त्याग करना, यह विनम्रता है। साधक के मन में अहंभाव नहीं होना चाहिये। अहंकार और ममकार की भावना साधक की उन्नति में बाधक है। विनम्रता का गुण साधक में अवश्य होना चाहिये।

> औरों की भूलों को भूलें, भूल स्वयं की स्वीकारें।
> करें वृत्तियों का संशोधन, ढहें अहं की दीवारें॥
> आत्मा से आत्मा को देखें, प्रतिदिन प्रेक्षाध्यान करें।
> रहें सदा अनजान स्वयं से, अब अपनी पहचान करें॥*

जैसे सतत ज्ञान प्राप्ति के अभ्यास को ज्ञानविनय कहा है, वैसे ही ज्ञानियों के प्रति आदर भी ज्ञान का विनय है।

९. वैयावृत्य (Service) :—साधक के लिए सेवाधर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसको साधक अपनी आवश्यकतावश दूसरों से कम से कम सेवा लेता है और दूसरों के लिए

---

* प्रेक्षा गीत सत्र पच्चीसी: साध्वी श्री ...

अधिक से अधिक उपयोगी बनता है। जीवन में एक दूसरे की सेवा और सहयोग आवश्यक होते हैं। साधना करने वाले को सहयोग देते रहना एवं सहधर्मी बन्धु के प्रति सेवा की भावना रखना वैयावृत्य अथवा सेवा हैं।

१०. **स्वाध्याय** (Study) :—पढ़ना, ज्ञान प्राप्त करना। हमें वही ज्ञान प्राप्त करना है जिससे स्वयं की आत्मा जागृत हो। अनुभवियों के अनुभवयुक्त वचन या ग्रन्थों का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी होता है। स्वाध्याय करते समय यदि यह दृष्टि रहे तो हम बहुत लाभान्वित हो सकते हैं। केवल बाहरी अल्प ज्ञान पर्याप्त नहीं। हमें कर्म – बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला सद्ज्ञान प्राप्त करना है। साधना का प्रथम बिन्दु है पहले सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना और फिर उसका आचरण करना। यही साधना का पथ है।

११. **ध्यान** (meditation or concentration):— जीवन की दो महानतम् घटनाएं – जीवन और मृत्यु – मनुष्य के अकेलेपन के क्षणों में होती हैं। ध्यान और काम ये दोनों अनुभूतियाँ भी हमारी निजी हैं। दोनों ही हमें 'अकेलेपन' का आनन्द देती हैं। मगर जहाँ 'काम' का आनन्द क्षणिक है, भंगुर है, और उसका अकेलापन मृत्यु के समान है, वहीं 'ध्यान' का आनन्द चिर स्थाई है, जीवन्त है और उसका अकेलापन अमृतमय जीवन के समान है। मगर जिस तरह मृत्यु की अनिवार्यता ही हमें जीवन की अमरता की उपयोगिता बताती है, ठीक उसी तरह "काम" के आनन्द का अस्थायित्व ही हमें एक ऐसे माध्यम की खोज हेतु प्रेरित करता है जिसके द्वारा यो क्षणिक आनन्द

एक शाश्वत परमानन्द बन जाए। वो साधन और माध्यम है – ध्यान।

स्वस्थित चित्त की अवस्था काम द्वारा प्राप्त करना और वो भी क्षण भर के लिए – एक बहुत ही महंगा माध्यम है, क्यों कि इस अवस्था की प्राप्ति की कीमत हमें अपनी उर्जा-शक्ति नष्ट कर देनी होती है। यही उर्जा, आत्मा को अनावृत कर उसे दिव्य प्रकाश से आलोकित करने हेतु रूपान्तरित की जा सकती है ध्यान द्वारा। अतः काम द्वारा हमारी उर्जा का अधोगमन होता है जब कि ध्यान द्वारा होता है उसका ऊर्ध्वगमन।

यहां यह जानना भी ठीक होगा कि पुराने शैव व जैन मन्दिरों में आलिंगन और मिथुन क्रीडाओं में रत मूर्ति शिल्प का प्रचलन हुआ और समय समय पर अनुसंधान लेख प्रकाशित हुए हैं।

*"राजस्थान में उपेक्षित खजुराहो रामगढ़" का शिव मन्दिर जिसे भण्ड देवरा कहते हैं जो कोटा से १३० कि.मी. दूर किशनगंज तहसील में स्थित रामगढ़ ग्राम से तीन किलोमीटर दूर प्राकृतिक पहाड़ों से घिरे तलहटी में एक प्राचीन अद्भुत शिवालय है। दसवीं शताब्दी में इस अंचल में शैव मत का बाहुल्य था और वाममार्ग शाखा का प्रभाव शासक से लेकर प्रजा तक था। इस समय में आलिंगन और मिथुन क्रीडाओं में रत मूर्ति शिल्प का प्रचलन हुआ। यही वह समय था जब कि खजुराहो के भी शिल्प निर्मित हुआ था। [illegible] मिथुन शिल्प की [illegible]

---

*रामावतार जोशी, "राजस्थान का उपेक्षित खजुराहो भण्डदेवरा", "नवनीत" फरवरी ८३ पृष्ठ ४३

के साथ तादात्म्य का एक दैहिक साधन मानते थे। शिव भक्ति का मिलन जीवन की अनिवार्य इच्छा मानते थे। अध्यात्म प्राप्ति अर्थात् मोक्ष का मुख्य स्रोत काम क्रीड़ा है। उनका मानना था मोक्ष तभी सम्भव है जब भोग से तृप्ति हो।"

"इसी तरह राजस्थान के पाली जिले में अरावली पर्वत की छोटी छोटी पहाड़ियों में उदयपुर मार्ग पर स्थित विशाल आदिनाथ जैन मन्दिर जो शिल्प सौंदर्य का एक सुन्दर नमूना है, के तोरण द्वार पर "भण्ड देवरा" के समान मिथुन क्रीड़ाओं में रत मूर्ति शिल्प में चित्र अंकित किए हुए हैं। उसके पास ही एक छोटा मन्दिर और है उसकी फेरी में भी इस तरह मिथुन व आलिंगन क्रियाओं के मूर्ति शिल्प में उनके चित्र अंकित किये हुए हैं। इन्हें आज भी देखा जा सकता है।"

भण्ड देवरा व राणकपुर का जो मूर्त इतिहास है वह भी एक सत्य है। उस समय यही मान्यता थी ऐसा सम्भव लगता है। जैन दर्शन में इस कथन की कोई पुष्टि नहीं मिलती और न ही जैन दर्शन में अब्रह्मचर्य के लिए कोई जगह है। जैन साधुओं में पूर्ण ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है और श्रावकों में स्वयं की स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियाँ माँ बहन के समान हैं। अब्रह्मचर्य के प्रति इतनी दृढ़ धारणा व श्रद्धा के होते हुए भी मन्दिरों में इस तरह के चित्र होना आश्चर्यकारी है। इसमें कोई न कोई राज अवश्य है।

खजुराहो मन्दिर की बाहरी भित्ती भी शरीर और इन्द्रियों से जुड़ी समस्त क्रियाओं को दर्शाती है। मगर भीतर ही भीतर महज शिव की शान्त, आनन्दित मूर्ति अवस्थित है। सम्भवतः इस शिल्प के माध्यम से यह तथ्य उजागर किया गया हो कि

एक शाश्वत परमानन्द बन जाए। वो साधन और माध्यम है – ध्यान।

स्वस्थित चित्त की अवस्था काम द्वारा प्राप्त करना और वो भी क्षण भर के लिए – एक बहुत ही महंगा माध्यम है, क्यों कि इस अवस्था की प्राप्ति की कीमत हमें अपनी उर्जा-शक्ति गंवा कर देनी होती है। यही उर्जा, आत्मा को अनावृत कर उसे दिव्य प्रकाश से आलोकित करने हेतु रुपान्तरित की जा सकती है ध्यान द्वारा। अतः काम द्वारा हमारी उर्जा का अधोगमन होता है जब कि ध्यान द्वारा होता है उसका उर्ध्वोगमन।

यहाँ यह जानना भी ठीक होगा कि पुराने शैव व जैन मन्दिरों में आलिंगन और मिथुन क्रीड़ाओं में रत मूर्ति शिल्प का प्रचलन हुआ और समय समय पर अनुसंधान लेख प्रकाशित हुए हैं।

*"राजस्थान में उपेक्षित खजुराहो रामगढ़" का शिव मन्दिर जिसे भण्ड देवरा कहते हैं जो कोटा से १२० कि. मी. दूर किशनगंज तहसील में स्थित रामगढ़ ग्राम से तीन किलोमीटर दूर प्राकृतिक पहाड़ों से घिरे तलहटी में एक प्राचीन अद्‌भुत शिवालय है। दसवीं शताब्दी में इस अंचल में शैव मत का बाहुल्य था और वाममार्ग शाखा का प्रभाव शासक से लेकर प्रजा तक था। इस समय में आलिंगन और मिथुन क्रीड़ाओं में रत मूर्ति शिल्प का प्रचलन हुआ। यही वह समय था जब कि खजुराहो में भी शिल्प निर्माण हुआ था। वाम मार्गी मिथुन क्रिया को भगवान

---

*रामस्वरूप जोशी, "राजस्थान का उपेक्षित खजुराहो भण्डदेवरा", "नवनीत" फरवरी ८३ पृष्ठ ५३

के साथ तादात्म्य का एक दैहिक साधन मानते थे। शिव भक्ति का मिलन जीवन की अनिवार्य इच्छा मानते थे। अध्यात्म प्राप्ति अर्थात् मोक्ष का मुख्य स्रोत काम क्रीड़ा है। उनका मानना था मोक्ष तभी सम्भव है जब भोग से तृप्ति हो।"

"इसी तरह राजस्थान के पाली जिले में अरावली पर्वत की छोटी छोटी पहाड़ियों में उदयपुर मार्ग पर स्थित विशाल आदिनाथ जैन मन्दिर जो शिल्प सौंदर्य का एक सुन्दर नमूना है, के तोरण द्वार पर "भण्ड देवरा" के समान मिथुन क्रीड़ाओं में रत मूर्ति शिल्प में चित्र अंकित किए हुए हैं। उसके पास ही एक छोटा मन्दिर और है उसकी फेरी में भी इस तरह मिथुन व आलिंगन क्रियाओं के मूर्ति शिल्प में उनके चित्र अंकित किये हुए हैं। इन्हें आज भी देखा जा सकता है।"

भण्ड देवरा व राणकपुर का जो मूर्त इतिहास है वह भी एक सत्य है। उस समय यही मान्यता थी ऐसा सम्भव लगता है। जैन दर्शन में इस कथन की कोई पुष्टि नहीं मिलती और न ही जैन दर्शन में अब्रह्मचर्य के लिए कोई जगह है। जैन साधुओं में पूर्ण ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है और श्रावकों में स्वयं की स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियाँ माँ बहन के समान हैं। अब्रह्मचर्य के प्रति इतनी दृढ़ धारणा व श्रद्धा के होते हुए भी मन्दिरों में इस तरह के चित्र होना आश्चर्यकारी है। इसमें कोई न कोई राज अवश्य है।

खजुराहो मन्दिर की बाहरी भित्ती भी शरीर और इन्द्रियों से जुड़ी समस्त क्रियाओं को दर्शाती है। मगर भीतर ही भीतर महज शिव की शान्त, आनन्दित मूर्ति अवस्थित है। सम्भवतः इस शिल्प के माध्यम से यह तथ्य उजागर किया गया हो कि

मनुष्य को बाहरी रूप से दिखाई देने वाला सत्य जो कि शरीर से जुड़ा है (जिसे कि पश्चिम में लोग पूर्ण सत्य मानते हैं) इसी बात को पूर्ण सत्य नहीं मान लेना चाहिये । हमारे भीतर शान्त, निराकार, निरन्तर एक और ध्रुव सत्य विराजमान है-आत्मा। शरीर की बाह्य भित्ती से इसका उद्‌घाटन मनुष्य के लिए महत्त्व पूर्ण होना चाहिये । खलील जिब्रान के शब्दों में, "Ambition beyond existence should be the essential purpose of the life"

* "ध्यान अर्थात् समाधि एक अत्यंत ही दुरूह शारीरिक क्रिया है । वर्षों के अभ्यास और नियंत्रण के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति अपने मस्तिष्क की शक्तियों को अत्यधिक जाग्रत कर अपनी शारीरिक क्रियाओं को शिथिल करने में कामयाब होता है । यही योग, समाधि या अन्तर्ज्ञान मनन (transdental meditation) की सफलता भी है । सभी अध्यात्म गुरु एक ही उपदेश देते हैं, "अपने अन्तर में झांको । तुम्हें अपने सार्थक होने का प्रमाण मिलेगा । स्वय को पहचानने का अवसर मिलेगा । अपनी आत्मा में झांको और निज की खोज करो ।"

ध्यान, मनन और समाधि की अवस्था में व्यक्ति के मस्तिष्क और शरीर में कई तरह की जैव – रसायनिक प्रक्रियाएं सक्रिय होती हैं अथवा निष्क्रिय होती हैं । अन्तर्ज्ञान मनन के विषय में महर्षि महेश योगी कहते हैं, "ध्यान को अन्तर्मुखी कर इसे विचार के सूक्ष्मतर स्तर तक उस समय तक उतारते चले जाना है, जब तक मन विचार के सूक्ष्मतम अमूर्त रूप से भी

---

* श्री रणवीरसिंह "ध्यान स्वास्थ्य लाभ के लिये" कादम्बनी दिसम्बर ८२, पृष्ठ १०८

परे की स्थिति तक नही पहुंच जाता और विचार के स्रोत की खोज नहीं कर लेता। इस प्रकार चेतन मन की शक्तियों का विस्तार होता है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य का सम्बन्ध सृजनात्मक बौद्धिकता की ओर अग्रसर होता है और अन्तिम रूप में यह सृजनात्मक विचार का जनक होता है।"

यह कोई चमत्कार, अलौकिक शक्ति अथवा तंत्र-मंत्र नहीं; अपितु यह तो इन सब से दूर एक श्रमहीन शारीरिक और मानसिक क्रिया है, जो एक साधारण मानव भी करने में सक्षम है। केवल घन्टे भर के दैनिक अभ्यास से मानव प्रसन्नचित्त और सृजनशील बना रह सकता है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने कहा है, "ध्यान से रिक्त कोई धर्म नहीं है। शरीर में जो महत्व मेरुदण्ड का है, धर्म में वही स्थान ध्यान का है। कोई भी योग का अभ्यास करे ध्यान अनिवार्य है। ध्यान के बिना न नाद-श्रवण किया जा सकता है, न मन्त्र साधना, न बिन्दु साधना और न आत्म-साधना हो सकती है।

*काश्मीरी शैवागम के अनुसार ध्यान शान्ति की अनुपम विधि है।

अनाहते पात्रकर्णोऽभग्न शब्दे सरिद द्रुते।
शब्द ब्रह्मणि निष्णातः पर ब्रह्माधिगच्छति॥

नदी का जल जैसे निरन्तर बहता रहता है, उसी तरह शरीर के भीतर एक स्वर जिसे अनाहत नाद (अनहद घोष) कहते हैं दिन

*नवनीत, दिसम्बर १६८०, में प्रकाशित लेख का अंश।

रात स्वभाविक रूप से बिना रुकावट के चलता रहता है ऐसा योगियों का मत है। बाहर जगत की कोई भी ध्वनि बिना दो चीजों के टकराव के पैदा नहीं हो सकती। मगर शरीर के भीतर सुनाई पड़ने वाली यह ध्वनि (नाद-भट्टारक) किसी टकराव से पैदा नहीं होती। परन्तु यह तो स्वभाविक स्वयम्भू ध्वनि है।

जो साधक अपने भीतर की दरगाह में अविराम गुंजायमान इस अनहद संगीत के साथ अपने को एक तान करने का अभ्यास कर लेता है, उसे अपने मन के सरोवर में ही जब अपनी आत्मा के पूर्ण चन्द्रोदय की अनुभूति अनायास होने लगती है तब देह, प्राण, मन, चेतन हर समय ऊपर से झरती हुई चांदनी में आर्द्र रहने लगता है। यही है अमृतानुभव।

मुण्डकोपनिषद के अनुसार जब मनुष्य की प्रकृति ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध हो जाती है तब ध्यान के द्वारा वह उसको देख सकता है जो अविकल है और सम्पूर्ण है। उस सूक्ष्म आत्मा को उस परम चिन्तन के द्वारा जाना जा सकता है। पाँचों इन्द्रियों से सन्निविष्ट मानव का समूचा चिन्तन इन्द्रियों के साथ गुंथा हुआ है। जब वह विशुद्ध हो जाता है तब आत्मा अपने आप ही प्रकाशित हो उठती है। अग्नि पुराण में लिखा है, "न हि ध्यानेन सदृशं शोधन पाप कर्मणाम्" ध्यान के समान पापों की शुद्धि करने वाला अन्य कोई नहीं है। आचार्य श्री हेमचन्द्र लिखते हैं कि कर्म क्षय होने से मोक्ष मिलता है और मोक्ष का साधन सम्यग् ज्ञान है और सम्यग् ज्ञान ध्यान के द्वारा सम्भव है।

जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा है, "एकाग्रचिन्तन योग

निरोधो वा ध्यानम्" किसी एक ही विषय का चिन्तन, एक ही विषय पर स्थिरीकरण और योग - काय, वाणी तथा मन - के समस्त व्यापारों का निरोध ध्यान है। ध्यान का अर्थ है अपने आप में लीन हो जाना। समग्र प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध ध्यान का उत्कृष्टतम रूप है। मनुष्य बहिर्मुखी रहना पसन्द करता है परन्तु ध्यान अन्तर्मुखी होना सिखाता है। स्वयं में सुख ढूंढना ध्यान है। ध्यान के चार अंग है :—ध्याता, ध्यान, ध्येय और समाधि। मनोनुशासनम् में लिखा है "स्वरूपमधिजिगमिपुर्ध्याता" जिस व्यक्ति में स्वरूप-जिज्ञासा (मैं कौन हूँ) अपना मौलिक रूप जानने की भावना होती है, वही ध्याता – ध्यान का अधिकारी होता है। ससार की असारता का व पीड़ा का बोध विरक्ति लाता है और विरक्त व्यक्ति ही शक्ति की खोज में निकलता है। जहाँ विरक्ति न हो और कोई विशेष घटना की अभिप्रेरणा न हो, वहाँ समान्यतया इस महान दुसाध्य 'ध्यान" के पथ पर अग्रसर होना कठिन है। जिसकी आत्मा स्थित होती है वह ध्याता ध्यान करने वाला होता है। मन को एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है; विशुद्ध आत्मा (परमात्मा)ध्येय और उसका फल है समाधि। जैन साधकों का अनुभव यह है कि प्रारम्भ में सालम्बन ध्यान करना चाहिये। सालम्बन ध्यान में ध्येय और ध्याता का भेद होता है। अन्तिम अवस्था में ध्यान और ध्याता का भेद नही होता वह निरालम्बन ध्यान होता है।

सालम्बन और निरालम्बन ध्यान के अलावा ध्यान प्रशस्त भी होता है और अप्रशस्त भी। शुभ भी होता है और अशुभ भी। अशुभ - अप्रशस्त ध्यान दो प्रकार के हैं :—आर्त और रौद्र।

१. आर्त्त ध्यान :—इसका अर्थ है पीड़ा या दुःख। उसमें होने वाली एकाग्रता को आर्त्त ध्यान कहते हैं। अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए निरन्तर चिन्ता करना, इष्ट या मनोनुकूल वस्तु के चले जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति के निमित्त निरन्तर चिन्ता करना, शारीरिक या मानसिक पीड़ा या रोग होने पर उसे दूर करने की निरन्तर चिन्ता करते रहना, भोगों की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अप्राप्य भोग्य वस्तु को प्राप्त करने में मन को निरन्तर उसी में लगाये रखना यह सब आर्त्त ध्यान है।

२. रौद्र ध्यान :—रौद्र शब्द का अर्थ है क्रूरता। जिसका चित्त क्रूर होता है, जो प्रतिशोध का भाव रखता है, हिंसा की भाव धारा सतत बहती रहती है, दूसरों को गिराने व कुचलने में जिसे रस रहता है, असत्य, चोरी, संग्रह, दूसरों को ठगने में जो कुशल होता है, वह रौद्र ध्यान का अधिकारी है। स्वभाव की खोज में उत्सुक साधक को इन दोनों असद् ध्यानों से सतत सावधान रहना चाहिये।

प्रशस्त या शुभ ध्यान भी दो प्रकार के हैं :—धर्म और शुक्ल।

१. धर्म ध्यान-:अपने घर में लौट आना या चेतना का चेतना में लौट आना धर्म ध्यान का परम पवित्र और सर्वोत्तम पद है। चित्त को अशुभ प्रवृत्ति से हटा कर शुभ प्रवृत्ति में एकाग्र करना धर्म ध्यान है। अपने दोष क्या हैं, उनका स्वरूप क्या है, उनसे छुटकारा कैसे कर सकते हैं इन विषयों पर निरन्तर चिन्तन करते रहना धर्म ध्यान है। मैंने इस जीवन में आत्म-कल्याण का कौनसा कार्य किया या कौनसा काम ऐसा बाकी है जिसको मैं

कर सकता हूँ किन्तु नहीं कर रहा हूँ ? क्या मेरी स्खलना कोई दूसरा देखता है या मैं स्वयं देखता हूँ और इनके प्रति मैं कितना जागरूक हूँ ऐसा चिन्तन करते रहना धर्म ध्यान है।

२. शुक्ल ध्यान :—"अप्पा अप्पमि रग्रो" आत्मा में रमण करना यह शुक्ल ध्यान है। ध्यान की प्रारम्भिक दशा में मन की एकाग्रता होती है और अन्तिम अवस्था में उसका निरोध होता है। केवल ज्ञान की प्राप्ति तक चिन्तनात्मक ध्यान रहता है। केवली के सिर्फ योग-निरोधात्मक ध्यान ही होता है। मुक्त होने से अन्तर्मुहूर्त पहले मनोयोग का, उसके बाद वचनयोग का, उसके बाद काय योग का और उसके बाद श्वासोच्छ्वास का निरोध हो जाता है। आत्मा की सब प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं। शुक्ल ध्यान की अवस्था में आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है।

किसी साधक से पूछा, ध्यान का सार क्या है ? साधक ने उत्तर दिया, "विनम्रता"। "मैं-अहं का मिट जाना" जिसके मानसिक, वाचिक और कायिक विकार शान्त हो चुके हैं और पर-पदार्थों से जो वितृष्ण हो चुका है, ऐसे परम साधक के लिए मोक्ष यही है।

ध्यान के लिये आसनों का भी अपना महत्त्व है। वे चित्त की एकाग्रता का सम्पादन करने में सहयोगी हैं। आसनों में ध्यान योग्य आसन पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि सामान्यतया प्रचलित रहे हैं। परन्तु पद्मासन पर किया ध्यान ही श्रेष्ठ है। दूसरे आसन पर ध्यान ध्यान ही होता है पर श्रेष्ठ ध्यान पद्मासन पर ही है। थकावट हो जाय तो धीरे से आसन बदल लें। शरीर चंचल न हो जाय इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

ध्यान करने की एक विधि "प्रेक्षा ध्यान" के अन्तर्गत दी जा रही है।

प्रेक्षा ध्यान (Process of ascertaining and knowing the TRUTH):-प्रेक्षा का सामान्य अर्थ है देखने का कार्य। यहाँ प्रेक्षा का अर्थ है बाह्य वस्तुएँ, अंग, प्रत्यंग और उससे भी परे आत्म—अवलोकन करना। हालांकि प्रेक्षा-ध्यान का एकमात्र और अन्तिम लक्ष्य है आत्मा का उसके परम ज्योति के साथ अवलोकन, मगर उसका एक सशक्त बाई – प्रोडक्ट (Bye-product) भी है और वह है भाव नियन्त्रण से उन रसायनों का नियंत्रण जो हमारी ग्लैंड्स (glands) से स्रवित (secrete) होते है। इन रसायनों की मात्रा का नियंत्रण हमारे पक्ष में किया जा सकता है, अगर प्रेक्षाध्यान की क्रिया के दौरान शरीर के भीतर का विश्लेषण सम्यक् भाव उत्पन्न करके किया जा सके।

रसायन उत्पन्न करने वाली ग्रिन्थियों (glands) में जो हारमोन्स (harmones) बनते हैं वे एक जैसे नहीं होते; भाव के अनुसार होते हैं। जैसे हमारे आन्तरिक भाव होते हैं, वैसे ही रसायन उत्पन्न होते हैं और ये रसायन हमारे आचार, विचार और व्यवहार को प्रभावित करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार नाड़ी रचना (nervous system) में जो मुख्य : मुख्य ग्रिन्थियाँ हैं वे आदमी के आचार, विचार और व्यवहार को नियन्त्रण करते हैं।:

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–"संपिक्खए, अप्पगमप्प-एणं" आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो; मन के द्वारा

सूक्ष्म मन को व स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। आप मौन होकर, तनाव रहित होकर, स्थिर होकर, अनिमेष चक्षु मे किसी वस्तु को देखें, विचार समाप्त हो जाएंगे, विकल्प शून्य हो जायेंगे। आप स्थिर होकर अपने विचारों को देखें या शरीर के प्रकम्पनों को देखें तो आप पाएंगे कि विचार स्थगित और विकल्प शून्य हैं। भीतर की गहराइयों को देखते देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेंगे। जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमें बाहरी सत्य को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती है।

सब से पहले प्रेक्षक मौन होकर शरीर को स्थिर व तनाव रहित रख कर सहज श्वास को देखता है। इस तरह ध्यान का अभ्यास करते करते प्रेक्षक श्वास की गति को बदलता है। श्वसन का काल दीर्घ, मन्द और सूक्ष्म हो इसकी जानकारी साधक का प्रथम प्रयास होता है। इस तरह श्वास की संख्या घटती है, लम्बाई बढ़ती है। सामान्यतया व्यक्ति एक मिनट में १७-१८ श्वास लेता है वह घट कर एक दो प्रति मिनट तक आ सकती है। मन शान्त होता है। साथ-साथ व्यक्ति के आवेश, कषाय, उत्तेजनाएं व वासनाएं भी शांत होती जाती हैं। प्रेक्षक के शरीर और मन की दशा भी बदल जाती है; उसका स्वभाव बदल जाता है। क्रिया की प्रतिक्रिया करने की हरकत से प्रेक्षक अपने को बचाने का प्रयास करता है। वह अधिक से अधिक जागरूक रहता है। सत्य के प्रति क्रिया हो, प्रतिक्रिया न हो। जब प्रेक्षक कोई भी क्रिया करता है तो वह अपनी स्वतंत्र आवश्यकता के लिये ही करता है। जैसे जैसे व्यक्ति की साधना का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे वैसे व्यक्ति की आदतें बदलती हैं। उसकी प्रकृति बदलती है। यदि प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास निरन्तर चलता रहे तो स्वभाव में परिवर्तन अवश्य होगा और मानवीय

संबंधों के स्तर में भी अन्तर आएगा। शरीर के भीतर एक ज्योति प्रस्फुटित होगी ऐसा अनुभव होगा।

मानवीय जीवन सम्बन्धी सब से बड़ी समस्या है विषमता। अगर परिवार के सदस्यों में विषमता होती है तो परिवार का व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता। अगर समाज के लोगों में विषमता हो तो समाज का व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता। ध्यान के द्वारा साधक चैतन्य के केन्द्रों को देखता है, शरीर के कण-कण में चैतन्य का अनुभव करता है और वह इस तरह समता की स्थिति में प्रवेश पा जाता है। जब किसी भी व्यक्ति के जीवन में विषमता के स्थान पर समता आ जाती है तो उसका आचरण बदल जाता हैं, आपसी व्यवहार के प्रकार बदल जाते हैं। समता व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण है। जिस व्यक्ति के आचरण में समता है और व्यवहार में मृदुता आ जाती है उसके सारे आपसी सम्बन्ध सुधर जाते हैं; विषमता मिट जाती है। भगवान महावीर ने कहा है "जीवन को सरस बनाने के लिए समतामय बनना आवश्यक है"। प्रेक्षा – ध्यान स्व के चिन्तन को परिष्कृत कर अपने जीवन को समतामय बना सकता है। समता केवल शब्दों के परिवर्तन से ही नहीं आएगी; उसके लिए जीवन में परिवर्तन लाना होगा।

एक दिन एक राजा ने अपने मंत्री से कहा, "हमारे राज्य में गरीब व अमीर का भेद न रहे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। मंत्री चिंतन करता रहा और आखिर उसे एक समाधान मिल गया। राज्य में घोषणा करवाई गई कि अभी तक अमीर श्रीखंड खाते रहे हैं और गरीब छाछ पीते रहे हैं। हमें गरीबों की गरीबी व अमीरों की अमीरी को समाप्त करना है। अतः

आज से सभी लोग छाछ को श्रीखंड और श्रीखंड को छाछ कहेंगे।" यह समस्या का समाधान नहीं हुआ बल्कि समस्या दोहरी हो गई। समतावादी बनने के लिए व्यक्ति को समत्व की साधना करनी होगी। साधक के लिए प्रेक्षा-ध्यान की उप-संपदा के पाँच सूत्र बताये है :—

> मित भोजन मित भाषिता मैत्री का आधार।
> प्रतिक्रिया से शून्य हो, क्रिया स्वयं निर्भार॥
> सदा साधना में रहे, भाव क्रिया उदार।
> पाँचों ही ये सूत्र हैं, सच्चे पहरेदार॥

मिताहार, मित भाषण, मैत्री, प्रतिक्रिया शून्य और उदार भाव क्रिया ये साधना करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

साधना के मुख्य उद्देश्य दो है, पहला कषायों से मुक्त होकर शान्ति पाना और चेतना की निर्मलता प्राप्त करना। दूसरा है चमत्कार की सिद्धि। ये दो महान सिद्धियाँ हैं। चमत्कार प्रदर्शित करने वाले अनुग्रह व निग्रह करमें में समर्थ होते हैं। ऐसे व्यक्ति इतने संवेदनशील बन जाते है कि किसी पर थोड़े से नाराज होने पर वे शाप दे देते हैं और थोड़ा सा प्रसन्न होने पर वरदान भी दे देते हैं। जिस व्यक्ति को चमत्कार से प्रशंसा पानी है उसके लिए यह सिद्धि ठीक हो सकती है परन्तु साधना का लक्ष्य यहीं तक सीमित नहीं है उसे और आगे बढ़ना है। उसका है स्वयं को बदलना, कषायों को न्यून करना और आत्मा के शुद्ध स्वरुप को स्वयं के लिए उपलब्ध करना। इसलिए ऐसी साधना करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य भी इसके अनुरुप ही होगा और उसका मार्ग भी वही होगा। उचित लक्ष्य को सामने रख कर जो व्यक्ति साधना करता है उसका फल भी साधना के अनुरुप ही

संबंधों के स्तर में भी अन्तर आएगा। शरीर के भीतर एक ज्योति प्रस्फुटित होगी ऐसा अनुभव होगा।

मानवीय जीवन सम्बन्धी सब से बड़ी समस्या है विषमता। अगर परिवार के सदस्यों में विषमता होती है तो परिवार का व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता। अगर समाज के लोगों में विषमता हो तो समाज का व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता। ध्यान के द्वारा साधक चैतन्य के केन्द्रों को देखता है, शरीर के कण-कण में चैतन्य का अनुभव करता है और वह इस तरह समता की स्थिति में प्रवेश पा जाता है। जब किसी भी व्यक्ति के जीवन में विषमता के स्थान पर समता आ जाती है तो उसका आचरण बदल जाता है, आपसी व्यवहार के प्रकार बदल जाते हैं। समता व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण है। जिस व्यक्ति के आचरण में समता है और व्यवहार में मृदुता आ जाती है उसके सारे आपसी सम्बन्ध सुधर जाते हैं; विषमता मिट जाती है। भगवान महावीर ने कहा है "जीवन को सरस बनाने के लिए समतामय बनना आवश्यक है"। प्रेक्षा – ध्यान स्व के चिन्तन को परिष्कृत कर अपने जीवन को समतामय बना सकता है। समता केवल शब्दों के परिवर्तन से ही नहीं आएगी; उसके लिए जीवन में परिवर्तन लाना होगा।

एक दिन एक राजा ने अपने मंत्री से कहा, "हमारे राज्य में गरीब व अमीर का भेद न रहे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। मंत्री चिंतन करता रहा और आखिर उसे एक समाधान मिल गया। राज्य में घोषणा करवाई गई कि अभी तक अमीर श्रीखंड खाते रहे हैं और गरीब छाछ पीते रहे हैं। हमें गरीबों की गरीबी व अमीरों की अमीरी को समाप्त करना है। अतः

आज से सभी लोग छाछ को श्रीखंड और श्रीखंड को छाछ कहेंगे।" यह समस्या का समाधान नहीं हुआ बल्कि समस्या दोहरी हो गई। समतावादी बनने के लिए व्यक्ति को समत्व की साधना करनी होगी। साधक के लिए प्रेक्षा-ध्यान की उप-संपदा के पांच सूत्र बताये है :—

> मित भोजन मित भाषिता मैत्री का आधार।
> प्रतिक्रिया से शून्य हो, क्रिया स्वयं निर्भार॥
> सदा साधना में रहे, भाव क्रिया उदार।
> पाँचों ही ये सूत्र हैं, सच्चे पहरेदार॥

मिताहार, मित भाषण, मैत्री, प्रतिक्रिया शून्य और उदार भाव क्रिया ये साधना करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

साधना के मुख्य उद्देश्य दो हैं, पहला कषायों से मुक्त होकर शान्ति पाना और चेतना की निर्मलता प्राप्त करना। दूसरा है चमत्कार की सिद्धि। ये दो महान सिद्धियाँ है। चमत्कार प्रदर्शित करने वाले अनुग्रह व निग्रह करमें में समर्थ होते है। ऐसे व्यक्ति इतने संवेदनशील बन जाते है कि किसी पर थोड़े से नाराज होने पर वे शाप दे देते हैं और थोड़ा सा प्रसन्न होने पर वरदान भी दे देते हैं। जिस व्यक्ति को चमत्कार से प्रशंसा पानी है उसके लिए यह सिद्धि ठीक हो सकती है परन्तु साधना का लक्ष्य यहीं तक सीमित नहीं है उसे और आगे बढ़ना है। उसका है स्वयं को बदलना, कषायों को न्यून करना और आत्मा के शुद्ध स्वरुप को स्वयं के लिए उपलब्ध करना। इसलिए ऐसी साधना करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य भी इसके अनुरुप ही होगा और उसका मार्ग भी वही होगा। उचित लक्ष्य को सामने रख कर जो व्यक्ति साधना करता है उसका फल भी साधना के अनुरुप ही

मिलता है। ऐसी साधना के फलस्वरूप जो निष्पत्तियाँ मिलनी चाहिये वे इस प्रकार की होनी चाहिये :—

१. सक्रियता और निष्क्रियता का संतुलन व शारीरिक संतुलन।
२. लक्ष्य के प्रति मन की जागरूकता; कर्म और चिन्तन का सामंजस्य।
३. संकल्प शक्ति का विकास; दृढ़ निश्चय की क्षमता का विकास।
४. सत्य की अनुभूति या साक्षात्कार; मन के मैलों की सफाई।
५. द्रष्टाभाव का विकास।
६. घटना के प्रति सम या तटस्थ रहने की क्षमता या प्रतिक्रिया मुक्त चेतना का विकास।
७. मानसिक संतुलन।
८. आचार में समता और व्यवहार में मृदुता का विकास।
९. वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों का समन्वय।
१०. अति-मानसिक चेतना का जागरण।
११. व्यसन-मुक्ति।
१२. तनाव-जनित रोगों का निवारण।
१३. शरीर और मन में स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास।

मन विकल्प शून्य होने से एकाग्रता बढ़ती है। एकाग्रता का अर्थ है—चेतना का एक दिशा में प्रवाहित होना। इससे ज्ञान तंतु और मांस पेशियाँ प्रशिक्षित होती हैं। प्रेक्षा ध्यान मानसिक प्रशिक्षण और मानसिक चेतना के जागरण की एक महत्त्व और

सरल प्रक्रिया है। वह विचारों के सिलसिले को रोकती है। प्रेक्षा-ध्यान का सही प्रशिक्षण तो ऐसे शिविरों में भाग लेने से ही प्राप्त होता है।

विपश्यना :—ध्यान साधना की एक और पद्धति है वह है "विपश्यना" जो बौद्ध पद्धति में प्रचलित है। प्रेक्षा ध्यान की तरह "विपश्यना" साधना का उद्देश्य भी दुख से पूर्ण व सदा के लिये मुक्ति पाना जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारों का सर्वथा अन्त कर वीतराग बनने पर ही संभव है। अतः पूर्ण निर्विकार होना ही "विपश्यना" साधना का लक्ष्य है।

इस पद्धति में शिविर काल में भजन, कीर्तन, माला, मन्त्र, नाम, जप, धूप, दीप, रूप-स्मरण, प्राणायाम, पढ़ाई – लिखाई आदि से चित्त को एकाग्र करने के साधनों का या आलम्बनों का कोई स्थान नहीं है। इसका कारण यह है कि इन आलम्बनों से चित्त को एकाग्र होने में सहायता तो मिलती है परन्तु चित्त की एकाग्रता इन आलम्बनों पर निर्भर हो जाती है। और चित्त इन बाहरी आलम्बनों में ही रमण करने लगता है। फलतः चित्त को भविष्य में इन आलम्बनों को छोड़ सूक्ष्म बनाने अर्थात् अन्त-र्द्रष्टा आत्म-दर्शन करने वाला बनने में बाधा उत्पन्न होती है।

स्वयं का अनुभव करना ही विपश्यना है; आत्मानुभूति की प्रक्रिया ही विपश्यना है। विपश्यना का अर्थ है—सम्यक् दर्शन। परन्तु यहाँ देखने से अभिप्रायः है चर्म - चक्षुओं से नहीं देखना है, प्रत्यक्ष यथार्थ का अनुभव करना है। अर्थात् जो वस्तु या स्थिति जैसी है उसे वैसा ही देखना; राग, द्वेष, मोह की दृष्टि से नहीं देखना है। पदार्थों का वास्तविक स्वरूप अति सूक्ष्म है अतः

देखने के लिए दृष्टि भी अति सूक्ष्म चाहिये। हमारी दृष्टि अभी बहुत स्थूल को ही देखने में समर्थ है। सूक्ष्म को देखने की शक्ति इसमें नहीं है। अभी चैतन्य व परमाणु को देखने की बात तो दूर रही, हम अपने चित्त व शरीर के भीतरी भाग, सूक्ष्म शरीर व अचेतन मन की स्थिति को ही नहीं देख पाते, अनुभव भी नहीं कर पाते हैं। "विपश्यना" में स्थूल से सूक्ष्मतम तक पहुँचने की प्रक्रिया है। "विपश्यना" में देखने या अनुभव करने की क्रिया स्थूल शरीर से प्रारम्भ होती है और सूक्ष्म शरीर, चेतन मन, अचेतन मन, मन की ग्रन्थियों, कामनाओं, वासनाओं, कर्म के उदय, फल देने की प्रक्रिया, वस्तु के परमार्थ स्वरूप व शुद्ध चेतन के देखने व अनुभव करने तक पहुँचती है। इसमें चित्त की एकाग्रता, सतत जागरुकता, प्रगाढ़ समभाव नैरन्तर्य बना रहता है।

ध्यान साधना में सर्व प्रथम "आनापान सति" का अभ्यास प्रारम्भ होता है। इसका मुख्य लाभ चित्त को एकाग्र व नियन्त्रित करना है। इससे चित्त की एकाग्रता, शान्तता, सजगता का अभ्यास हो जाने के पश्चात् 'विपश्यना' का प्रारम्भ होता है। 'विपश्यना' द्रष्टा भाव का अभ्यास है। द्रष्टा भाव से चित्त शान्त हो जाता है। चित्त की शान्ति और स्थिरता के बढ़ने से शरीर के भीतर होने वाली संवेदनाओं का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार मन का भीतरी भाग अचेतन मन जागृत हो जाता है और आन्तरिक घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है। ये संवेदनाएँ - घटनाएँ कहीं सुखद लगती हैं कहीं दुखद। परन्तु साधक के लिए आवश्यक है कि वह उन संवेदनाओं को न अच्छा माने, न बुरा माने। वह उनसे न राग करे, न द्वेष करे। केवल समभाव से, तटस्थ भाव से निरित्त‌ा -

से उनका अनुभव करे। इससे शरीर और मन के भीतरी तल पर स्थित सूक्ष्म ग्रन्थियाँ खुलती हैं तथा समभाव के कारण नवीन ग्रन्थियों का निर्माण भी रुक जाता है। ग्रन्थियों के खुलने मे शरीर और मन में विद्यमान विकार दूर हो जाते हैं। इस प्रकार साधक शरीर और मन से स्वस्थ होता है। इस तरह 'विपश्यना' स्वयं के जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव व नैसर्गिक नियमों पर आधारित है।

१२. व्युतसर्ग (Renunciati n of the body and its ego - eccentricity :—बाह्य और आभ्यंतर दो प्रकार के व्युतसर्ग हैं। घर, खेत, सम्पत्ति, परिवार आदि की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है और राग, द्वेष, कषाय आदि आन्तरिक दुर्गुणों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग का अर्थ विसर्जन है। यह साधना की अन्तिम निष्पत्ति है। जो कुछ भी बचा हुआ होता है वह यहाँ सब समाप्त हो जाता है। अहंकार और ममत्व जो मंजिल के मध्य विघ्न हैं साधक उनसे पार हो जाता है, तब शेष जो है वही रहता है। सारे कषाय छूट जाते हैं। यह अयोग की साधना है। सब प्रकार के सम्बन्धों को अलग कर देना है। इस प्रक्रिया में शरीर का व्युत्सर्ग होता है और कर्मों का भी। व्युत्सर्ग मे तत्काल शरीर को निष्क्रिय व शिथिल कर लिया जाता है। पतंजलि की साधना में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यह साधना क्रम बताया गया है वैसा ही जैन साधना में भी है। आसन शरीर को अप्रमत्त, प्राणायाम चित्त को स्थिर, प्रत्याखान फैली हुई वृत्तियों को एकाग्र और धारणा संकल्प को धारण करने की शक्ति देती

है। इतनी तैयारी हो जाने पर साधक चित्त को स्थिर, दृढ़ एकाग्र और निर्मल बनाता है जिससे समाधि प्राप्त होती है।

उपर्युक्त तप के बारह सूत्र मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रियाएं हैं और यही मुक्त होने का क्षण है। प्रथम छः प्रकार के तप दृश्य शरीर के माध्यम से अदृश्य शरीर (कार्मण शरीर) को प्रकंपित करते हैं इसलिए ये बाह्य तप कहलाते हैं। अन्तिम छः प्रकार के तप मन के माध्यम से कार्मण शरीर को प्रकंपित करते हैं इसलिए इन्हें आंतरिक तप कहा है। इसको अंतरंग योग भी कहा जाता है।

मोक्षेण योजनाद योगः, समाधियोंग इष्यते।
सतपो विद्यते द्वेधा, बाह्यंनाभ्यन्तरेण च॥

जो आत्मा को मोक्ष से जोड़े, वह योग कहलाता है। आत्मा और मोक्ष का सम्बन्ध समाधि से होता है इसलिये समाधि को योग कहा जाता है। योग तप है।

यह जानना आवश्यक है कि स्थूल शरीर के माध्यम से होने वाले कर्म-शरीर के प्रकम्पनों की अपेक्षा मन के माध्यम से होने वाले प्रकम्पन अधिक शक्तिशाली होते हैं। उनकी चोट भीतरी होती है और साथ ही गहरी भी होती है। परिणाम स्वरूप उनके द्वारा कर्म-शरीर के परमाणुओं का अधिक मात्रा में विकीर्ण होता है।

आत्मा सब में व्याप्त है, किन्तु उसके अस्तित्व का अनुभव सब को नहीं है। जिसमें अनुभव है, आत्मा का जन्म वहीं है। जो उसे प्रकट करने में उद्यत होता है वही साधक होता है। फिर वह चाहे श्रमण, मुनि, भिक्षु हो या गृहस्थ। आत्मा का जागरण

बाहर के जगत से नहीं अन्तर्जगत से है। उसके साक्षात्कार के लिए प्रवल अभीप्सा चाहिये। भगवान महावीर का यही घोष है कि आत्मवान वनो। अपने भीतर है उसे खोजो। जिसने आत्मा को साधा है उसने सब कुछ पा लिया है। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा, "आनन्द तू धन्य है जो साधना में लग गया"।

संदर्भ :—१. युवाचार्य महाप्रज्ञ, "समस्या और समाधान" आदर्श साहित्य संघ चुरु द्वारा प्रकाशित विज्ञप्ति नं० ६३४; "मन के जीते जीत," "सम्बोधि"।

२. आचार्य श्री तुलसी, "जैन सिद्धान्त दीपिका" व "मनोनुशासन"।

3. कन्हैयालाल लोढ़ा, "विपश्यना" राजस्थान पत्रिका दिनांक 31-2-81

४. सम्पतमल भंडारी, "Srimaj Jayacharya" Page 41

भावना (Reflection)

अनित्यो नाम संसारस्त्राणाय कोऽपि नो मम ।
भवे भ्रमति जीवोऽसौ, एकोऽहं देहतः परः ॥
अपवित्रमिदं गात्रं, कर्माकर्षणयोग्यता ।
निरोधः कर्मणां श्रेयो, विच्छेदस्तपसा भवेत् ॥
धर्मोहि मुक्तिमार्गोऽस्ति, सुदृष्टालोकपद्धति ।
दुर्लभा वर्तते बोधिरेता द्वादश भावना ॥

१. "संसार अनित्य है" ऐसा चिन्तन करना "अनित्य", भावना है। All things are transitory in the world. This is called "Anitya" Bhavna.

२. "मेरे लिए कोई शरण नहीं है" ऐसा चिन्तन करना "अशरण" भावना है। None can help the Jiva in his trouble. This is called "Asharan" Bhavna.

३. "यह जीव संसार में भ्रमण करता है" ऐसा चिन्तन करना "भव या संसार भावना है। Endless is the cycle of transmigration. *This is called "Bhav Bhavna"*

४. "मैं एक हूं" ऐसा चिन्तन करना "एकत्व" भावना है। Alone does the jiva come into the world and alone does be leave. This is called "Ekatva Bhavna"

५. "मैं देह से भिन्न हूं" ऐसा चिन्तन करना "अन्यत्व" भावना है। "Soul is distinct from the body. "This is called "Anyatva" Bhavna.

६. "शरीर अपवित्र है" ऐसा चिन्तन करना "अशौच"

भावना है। "This body is full of foul matter. This is called 'Ashuchi" Bhavna.

७. "आत्मा में कर्मो का आकृष्ट करने की योग्यता है" ऐसा चिन्तन करना 'आस्रव" भावना है। Asrava is the cause of the influx of Karmas " This is called ' Asrava" Bhavna.

८. "कर्मो का निरोध किया जा सकता है" ऐसा चिन्तन करना 'संवर" भावना है। "Sanvar" Bhavna checks the attachment of Karmas with the soul.

९. 'तप के द्वारा कर्मो का क्षय किया जा सकता है" ऐसा चिन्तन करना "निर्जरा" भावना है। The Karmas can be detached through Tapasya This is called "Nirjara" Bhavna.

१०. 'धर्म मुक्ति का मार्ग है" ऐसा चिन्तन करना 'धर्म" भावना है। "Religion is the way to salvation " This is called "Dharm" Bhavna

११. 'लोक पुरुषाकृतिवाला है" ऐसा चिन्तन करना "लोक" भावना है। The concept of universe is alike the structure of a man. This is called "Lok" Bhavna.

१२. "बोधि दुर्लभ है" ऐसा चिन्तन करना "बोधि दुर्लभ" भावना है। "Transcendence" is rare. This is called. "Bodhi Durlabh" Bhavna

सुहृदः सर्व जीवा मे, प्रमोदो गुणिषु स्फुरेत् ।
करुणा कर्म क्लिष्टेषु, मध्यस्थं दोष कारिषु ॥

भावना (Reflection)

अनित्यो नाम संसारस्त्राणाय कोऽपि नोमम ।
भये भ्रमति जीवोऽसौ, एकोऽहं देहतः परः ॥
अपवित्रमिदं गात्रं, कर्माकर्षणयोग्यता ।
निरोधः कर्मणा भवयो, विच्छेदस्तपसा भवेत् ॥
धर्मोहि मुक्तिमार्गोऽस्ति, सुकृतालोकपद्धति ।
दुर्लभा वर्तते बोधिरेता द्वादश भावना ॥

१. "संसार अनित्य है" ऐसा चिन्तन करना "अनित्य" भावना है । All things are transitory in the world. This is called "Anitya" Bhavna.

२. "मेरे लिए कोई शरण नहीं है" ऐसा चिन्तन करना "अशरण" भावना है । *None can help the Jiva in his trouble.* This is called "Asharan" Bhavna.

३. "यह जीव संसार में भ्रमण करता है" ऐसा चिन्तन करना "भव या संसार भावना है । Endless is the cycle of transmigration. This is called "Bhav Bhavna"

४. "मैं एक हूं" ऐसा चिन्तन करना "एकत्व" भावना है। *Alone does the jiva come into the world and alone does be leave.* This is called "Ekatva Bhavna"

५. "मैं देह से भिन्न हूं" ऐसा चिन्तन करना "अन्यत्व" भावना है । "Soul is distinct from the body." This is called "Anyatva" Bhavna.

६. "शरीर अपवित्र है" ऐसा चिन्तन करना "अशौच"

भावना है। "This body is full of foul matter. This is called "Ashuchi" Bhavna

७. "आत्मा में कर्मो का आकृष्ट करने की योग्यता है" ऐसा चिन्तन करना 'आस्रव" भावना है। Asrava is the cause of the influx of Karmas" This is called 'Asrava" Bhavna.

८. 'कर्मो का निरोध किया जा सकता है" ऐसा चिन्तन करना 'संवर" भावना है। "Sanvar" Bhavna checks the attachment of Karmas with the soul.

९. 'तप के द्वारा कर्मो का क्षय किया जा सकता है" ऐसा चिन्तन करना "निर्जरा" भावना है। The Karmas can be detached through Tapasya This is called "Nirjara" Bhavna.

१०. 'धर्म मुक्ति का मार्ग है" ऐसा चिन्तन करना 'धर्म" भावना है। "Religion is the way to salvation" This is called "Dharm" Bhavna

११. 'लोक पुरुषाकृतिवाला है" ऐसा चिन्तन करना "लोक" भावना है। The concept of universe is alike the structure of a man. This is called "Lok" Bhavna.

१२. "बोधि दुर्लभ है" ऐसा चिन्तन करना "बोधि दुर्लभ" भावना है। "Transcendence" is rare. This is called. "Bodhi Durlabh" Bhavna

सुहृदः सर्व जीवा मे, प्रमोदो गुणिपु स्फुरेत्।
करुणा कर्य खिन्नेपु, मध्यस्थ्यं दोष कारिपु॥

१३. "सब जीव मेरे मित्र हैं" ऐसा चिन्तन करना "मैत्री" भावना है। Every soul on earth is my friend". This is called "Friendship" Bhavna.

१४. "गुणी व्यक्तियों से मेरा अनुराग है" ऐसा चिन्तन करना "प्रमोद" भावना है। I have inclination towards virtuous personalities. This is called "Pramod" Bhavna.

१५. "कर्मों से आर्त्त बने हुए जीव दुख से मुक्त बने" ऐसा चिन्तन करना 'करुणा" भावना है। Every soul on earth bound with Karmas may set free from misery & pain is called "Karuna" Bhavna.

१६. कुचेष्टा करने वाले व्यक्ति के प्रति उपेक्षा रखना यह "मिध्यस्थ" भावना है। Ignorence towards men of wrong attempts is called "Madhyastha Bhavna"

इन भावनाओं से संस्कार स्थिर बनते हैं, चित्त प्रसन्न होता है और समभाव की वृद्धि होती है। मोह युक्त भावनाओं से भावित मन मूढ़ बनता है और मोह-रहित भावनाओं से भावित होकर वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

आत्मा (आत्मस्वरूप) की उपलब्धि के लिए भावना आलम्बन है, इसलिए मन को सदा भावनाओं से भावित करना चाहिये। भावना का एक अर्थ है—वासना या संस्कार। मनुष्य का जीवन अनन्त जन्मों की वासना का परिणाम है। व्यक्ति जैसी भावना करता है वैसा ही बन जाता है। मनुष्य जो कुछ कर रहा है यह सब भावना का पुनरावर्तन है। भावना का अर्थ

है–एक नया संकल्प या सत्य की दिशा में अभिनव भावना का अभ्यास जिससे आत्म-विमुख भावना के भवन को तोड़ कर आत्माभिमुखी भावना द्वारा नये भवन का निर्माण हो। भावना का दूसरा अर्थ है जिस ध्येय से व्यक्ति अपने को संस्कारी बना रहा है उसके द्वारा स्वयं का प्रत्यक्ष अनुभव करना। साधक भावना के साथ-साथ सच्चाई के दर्शन से पराङ्‌मुख न हो। वह ध्यान के अभ्यास के साथ साथ भावना का अनुशीलन करता रहे। उससे एक शक्ति मिलती है, धीरे धीरे मन तदनुरूप परिणत होता है। मिथ्या धारणाओं से मुक्त होकर सत्य की दिशा में अनुगमन होता है और एक दिन स्वयं को तयानुरूप प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। भावना और ध्यान के सहयोग से मंजिल सुसाध्य हो जाती है। सभी धर्मों ने भावना का अवलम्बन किया है।

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ ने भावना के अभ्यास की एक सहज सरल विधि बताई है :—"भावना का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट प्रक्रिया से करना इष्ट सिद्धि में अधिक सहायक हो सकता है। साधक पद्मासन आदि किसी सुविधाजनक आसन में बैठ जाए। पहले श्वास को शिथिल करे। फिर मन को शिथिल करे। पांच मिनट तक उन्हें शिथिल करने के लिए सूचना देता जाए। वे जब शिथिल हो जाए तब उपशम आदि पर मन को एकाग्र करे। इस प्रकार निरन्तर आधा घंटा तक अभ्यास करने से पुराने संस्कार विलीन हो जाते हैं और नए संस्कारों का निर्माण होता है।"

भावनाएँ विविध हो सकती हैं। जिससे चित्त विशुद्धि होती है तथा अविद्या का उन्मूलन और विद्या की उपलब्धि होती

है वे सब संकल्प और विचार भावनाओं के अन्तर्गत हैं। इन भावनाओं का कुछ वर्गीकरण किया गया है। उन्हें बारह और चार-इस प्रकार दो भागों में विभक्त किया गया है :—

१. अनित्य भावना :—जो कुछ भी है, वह सब शाश्वत नहीं है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। साधक की दृष्टि अगर खुल जाय तो उसे सत्य का दर्शन संसार का प्रत्येक पदार्थ दे सकता है, वही उसका गुरु हो सकता है। अनित्य भावना में क्षण-क्षण बदलते हुए इस जगत को और स्वयं के निकट जो है उसका दर्शन करे। केवल संकल्प न दोहराये कि सब कुछ अनित्य है किन्तु उसका अनुभव करे और उसके साथ अन्तःस्थित अपरिवर्तनीय आत्मा की झलक भी पाये।

२. अशरण भावना :—यह भावना हमारे उन संस्कारों पर प्रहार करती है जो बाहर का सहारा ताकते हैं। अगर मनुष्य को समझ में यह तथ्य आ जाए कि अन्ततः मेरा कोई शरण नहीं है, तब सहज ही बाह्य वस्तु - जगत की पकड़ ढीली हो जाये। अन्यथा आदमी धन, परिवार, स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान आदि सबको पकड़ता है। वह समझता है कि अन्त में कोई न कोई मुझे आलम्बन देगा। यह भ्रम ही संग्रह का हेतु बनता है। धर्म कहता है-"कोई शरण नहीं है। क्यों व्यर्थ ममत्व, मोह और पाप का संग्रह करते हो? जीवन में भागने की जरूरत नहीं। सिर्फ पकड़ छोड़ दो।" गुरु नानक ने कहा है, जो जंग नहीं खुलता, वही वस्तुतः महान है। वही सच्ची सम्पत्ति है जो हमारे साथ जा सकती है।

३. भव भावना :—आज के वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार

करते हैं कि विश्व में पदार्थ सर्वथा नष्ट नहीं होते, केवल परिवर्तन होता रहता है। धार्मिक सदा से ही यह कहते आये हैं कि जीव और अजीव, चेतन और जड़ ये दो स्वतंत्र द्रव्य हैं। सम्पूर्ण विश्व इन दोनों की सृष्टि है। ये दोनों अनादि हैं। भव भावना में साधक यह देखता है, अनुभव करता है कि मैं इस संसार में कब से भ्रमण कर रहा हूँ। क्या मैं इस प्रकार भ्रमण करता रहूँगा? राग और द्वेष भव-भ्रमण के मुख्य हेतु है। जब तक ये विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मा का पूर्ण स्वातन्त्र्य प्रकट नहीं होता। विविध योनियों में विविध रूपों में भ्रमण का चिन्तन करना भव-भावना है।

-

४. एकत्व भावना :—ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा है, यही मैं हूँ। इसके सिवाय शेष संयोगिक पदार्थ मेरे से भिन्न हैं। वे "मैं" नही है। दूसरों के साथ अपने को इतना संयुक्त न करे कि जिससे स्वयं के होने का पता ही न चले। साधक सर्वत्र स्वयं के अकेलेपन का अनुभव करे। वह सिर्फ कल्पना के स्तर पर ही नहीं, वस्तुत: जो है-अस्तित्व के स्तर पर भी अकेला है। जिस दिन स्वयं की अनुभूति हो जायेगी, शान्ति उस दिन अपने आप द्वार खटखटाने लगती है।

५. अन्यत्व भावना :—एकत्व और अन्यत्व-दोनों परस्पर संबन्धित हैं। दूसरों से स्वयं को पृथक देखना एकत्व है और अपने से दूसरों को भिन्न देखना अन्यत्व है। "पर" "पर" है और "स्व" "स्व" है। "पर" को अपना न माने। संयोग है तो वियोग भी है। संयोग और वियोग में अपने को न जोड़ कर जीना ही अन्यत्व भावना है।

६. अशौच भावना :—साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर का सम्यक् दर्शन करे। आसक्ति मूल शरीर है। शरीर के साथ सभी व्यक्ति बंधे हैं। शरीर का ममत्व टूटने पर ही साधना में प्रगति होती है। अशौच भावना उस बन्धन को शिथिल करती है। यद्यपि शरीर अपवित्र है, अशुचि है, किन्तु परमात्मा का मन्दिर भी है। अशुचि का दर्शन कर ममत्व से मुक्त हो और साथ में परम-शुद्ध आत्मा का दर्शन भी करे। केवल शरीर के प्रति घृणा का भाव प्रगाढ़ करने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यही अशौच भावना का आशय है।

७-८. आस्रव संवर भावना:—आस्रव क्रिया है, प्रवृत्ति है और संवर अप्रवृत्ति तथा अक्रिया है। आस्रव कर्म - ग्राहक अवस्था है और संवर कर्म–निरोधक।*

९. तप भावना :—तप या निर्जरा एक ही है। तपस्या से कर्म-मल दूर हटता है और आत्मा उज्ज्वल होती है। छः प्रकार का बाह्य तप है और छः प्रकार का आन्तरिक तप है।**

१०. धर्म भावना :—धर्म का अर्थ है स्वभाव और वे साधन जिनसे व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है। धर्म को त्राण द्वीप, प्रतिष्ठा और गति कहा है। धर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थ जगत से नहीं, वह आत्मा का गुण है और उसमें वही मिलना चाहिये, जो कि उसके द्वारा प्राप्य है। धर्म ज्ञान-दर्शन-चारित्र है। धर्म निज का उदात्त, शुद्ध, आनन्दमय स्वरूप है। अपने

---

* विस्तृत चर्चा पृष्ठ १११ व २१८ पर

** विस्तृत चर्चा पृष्ठ २२८ पर

स्वरूप का परिचय करना धर्म भावना है ।*

११. लोक भावना:—सम्पूर्ण विश्व, जो पुरुषाकृति है; का चिन्तन करना लोक भावना है । मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर, सूर्य, चन्द्र, नारक, देव और मुक्तात्मा (सिद्धि स्थान) ये सब लोक की सीमा के अन्तर्गत है । साधक लोक की विविधता का दर्शन कर और उसके हेतुओं का विचार कर अपने अन्त: स्थित चेतना (आत्मा) का ध्यान करे । लोक भावना का अभिप्राय है—इस विविध और विचित्र लोक का सम्यक् अवलोकन कर स्वयं को तटस्थ बनाए रखना ।

१२. बोधि-दुर्लभ भावना :—मनुष्य जन्म दुर्लभ है और बोधि उससे अधिक दुर्लभ है । स्वय का होना बोधि है । जीवन में सब कुछ पाकर भी जिसने बोधि नहीं पाई, उसने कुछ नहीं पाया और बोधि पाकर जिसने कुछ नहीं पाया उसने सब कुछ पा लिया । मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है, खो जाता है, वह हमारी अपनी सम्पत्ति नहीं हैं । सम्बोधि अपनी संपत्ति है, उसे खोजना है, जन्म के पूर्व और मरने के बाद भी जिसका अस्तित्व अखण्ड रहता है, उसकी खोज में निकलना बोधि भावना का अभिप्राय है ।

बारह भावनाओं के अतिरिक्त चार भावनाओं का और उल्लेख मिलता है । वे हैं—मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा । पतंजलि ने कहा है—"मैत्री करुणा मुदितो पेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" । अर्थात् सुख, दुःख, पुण्य और पाप इन भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, करुणा,

* विस्तृत चर्चा पृष्ठ २६७ पर

आनन्द, प्रसन्नता और उपेक्षा का भाव धारण करने से चित्त प्रसन्न होता है।

मैत्री भावना :—जन्म मृत्यु की लम्बी परम्परा में कौन अपरिचित है किन्तु इसे साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकता। बहुत कम व्यक्तियों को अतीत का ज्ञान होता है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूँ और आगे भी रहूँगा। अतीत में था तो कहाँ था, कौन मेरे सम्बन्धी थे आदि कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं। इस दृष्टि से साधक का मन सब के प्रति मित्र भाव धारण कर लेता है। 'मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई' मेरा सब के साथ मैत्री-भाव है। कोई मेरा शत्रु नहीं है। अन्त श्चेतना से जैसे जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे वैसे साधक के मन में शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है। मित्र मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है और अमित्र-मन अप्रसन्न। शत्रु मन अशांत, हिंसक, घृणायुक्त और विनष्ट रहता है। उसमें प्रतिशोध की आग निरन्तर प्रज्ज्वलित रहती है। मित्र-मन में ये सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसे भय नहीं रहता। 'आयतुले पयासु' प्राणियों को अपने समान देखो—यह उसका फलितार्थ है।

प्रमोद भावना:—प्रमोद का अर्थ है—प्रसन्नता। जो स्वयं में प्रसन्न नहीं होता, प्रमोद भावना को समझना उसके लिये कठिन होता है। जो अपना मित्र बनता है, वही प्रमोद-प्रसन्न रह सकता है। जिसको अपने में प्रसन्नता है उसकी सर्वत्र प्रसन्नता है। वह अप्रसन्नता को देखता नहीं। अपने से जो राजी नहीं है, वही दूसरों के दोष देखता है, दूसरों की प्रसन्नता-विशिष्टता से ईर्ष्या करता है। दूसरों के गुणों को देखकर व्यक्ति स्वयं

का प्रमोद भावना के द्वारा कितना ही भावित करे, किन्तु ईर्ष्या की ग्रंथि खुलनी कठिन है, भले ही कुछ देर के लिये मन को तृप्त करले। जिसे ईर्ष्या से मुक्त होना है उसे सतत प्रसन्नता का जीवन जीना चाहिये। यह कोई असम्भव नहीं है। जो कुछ प्राप्त है, उसमें सदा प्रसन्न रहे। स्वयं में प्रसन्न रहना सीखें। फिर दूसरों से अप्रसन्नता भी नहीं आयेगी और दूसरों के गुणो के उत्कर्ष से अप्रसन्नता भी नहीं होगी।

करुणा भावना :—करुणा मैत्री का प्रयोग है। सारा जगत जिसका मित्र है उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। वह भीतर का एक बहाव है जो प्रतिपल सरिता की धारा की तरह प्रवाहित रहता है। हजरत उमर ने एक व्यक्ति को किसी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया। नियुक्ति पत्र लिखा और आवश्यक सूचना दी। इतने में एक छोटा बच्चा आ गया। हजरत उसे प्रेम करने लगे। उस व्यक्ति ने कहा, "मेरे दस बच्चे हैं। किन्तु मैंने इतना प्रेम और इस प्रकार आलाप-संलाप कभी नही किया।" हजरत ने वह नियुक्ति पत्र वापस लेकर फाड़ते हुए कहा—"जब तुम अपने बच्चों से भी प्रेम नहीं कर सकते, तब प्रजा से प्रेम की आशा मैं कैसे करूं?" प्रेम करुणा, सहानुभूति ये अन्तस्तल के सूचना–संस्थान है। दुखी, पीड़ित, त्रस्त व्यक्ति को देख कर जो करुणा का भाव जागृत होता है, वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमल मृदु और प्रेम से शून्य नहीं है। उसी करुणा को आत्मा से जोडना है, दुख के कारणों को मिटाना है। जिससे अनन्त करुणा का जन्म हो सके।

उपेक्षा भावना :—अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों में सर्वत्र सम रहना "उपेक्षा" है। साधक को न पदार्थों

में जुड़ना है और न बिछुड़ना है। पदार्थ है उसमें राग-द्वेष नहीं है। राग द्वेष है अपने भीतर। जब आदमी किसी से जुड़ता है तो राग और बिछुड़ता है तो द्वेष आता है। गौतम महावीर से बंधे रहे। बन्धन का मार्ग सरल है। मनुष्य बन्धक-प्रिय है। वह एक बन्धन छोड़ता है तो दूसरा कहीं न कहीं जोड़ लेता है। उपेक्षा करना कठिन है। उपेक्षा भावना का साधक कहीं किसी भी जड़ चेतन के साथ बंधता नहीं। वह आने वाले समस्त बंधनों की उपेक्षा कर तटस्थ भाव में अपने ध्येय में गति करता रहता है। साधक जब उपेक्षा भावना में निष्णात हो जाता है तब हर्ष और विषाद, सुख और दुःख, सम्मान और अपमान आदि द्वन्द्व सहजतया क्षीण होते चले जाते हैं।'

वैराग्य भावना

श्री अर्हन्त के दर्शन जो हम एक बार पा जाते।
निकल संसार-सागर से वहीं हम मोक्ष-सुख पाते॥

तमन्ना अपनी बर आती, मुरादें दिल की पा जाते।
गुरु निग्रन्थ के चरणों में सिर को गर झुका पाते॥

The purport of Life would be fulfilled, the heart's desire realised: should we but have the luck to bend the head at the feet of the Nirgranth Guru !

फना का दौर-दौरा है कयाम उसका है आलम में।
जवानी हुस्नो दौलत जिन्दगी सब है मिट जाते॥

Death's is the Empire, stability is a dream ! Youth, beauty, riches and life all are perishing away !

उठाई मरने-जीने की अनन्त वार तकलीफें ।
यों नित-नित रोज़ मरने से 'काश' एक वार मर जाते ।।

An infinity of times have the pains been endured of (repeated) birth and death ! Would that we had once died for good, to be rid of this constant daily dying !

शरण कैसी, मदद किसकी, नहीं फिरियादरस कोई ।
वोह देखो, जय की दाढ़ों में हैं सव-के-सब पिसे जाते ।।

Who is the refuge? Whose help to seek?; there is none to listen to the wail (of the soul) ! Look ! all are being ground in the Jaws of Death !

न साथी है, न संगी है कोई जीवों का आलम में ।
अकेले पैदा होते हैं अकेले ही हैं मर जाते ।।

There is no companion of souls in the world, not a way faring associate ! Alone are they born, alone also do they die !

नहीं जब जिस्म ही अपना तो कैसा गैर से रिश्ता ।
हां, ना फ़हेमीं से पुत्र वा मित्र अपने है कहे जाते ।।

When even the body is not one's own, how then, can another be a relation of the self? Through delusion, verily, are termed one's own the friend and the son ?

ढका है चाम से ढांचा, भरा है मूत्र व मल से यह—
येह ही है लोग जिसकी खूवियों पे नित्य हैं इतराते ।।

With (leathern) parchment is the skeleton covered:

it is filled with urine and filth ! Is this the thing whose excellencies have turned men's heads ?

चतुर-गति-रूप आलम है नहीं सुख से यहां कोई ।
मनुष्य तिर्यञ्च नारक देव हैं सब दुख से चिल्लाते ॥

Characterized by the gati quartette is this world of life; *happy there is none ! Devas* and men, *lower* kingdoms and hells-all are crying with pain !

अवस् की वन्दगी बातिल बुतों की झूठे देवों की ।
जो सवर निरजरा करते तो दिल का मुद्दआ पाते ॥

In vain, have we worshipped false gods and guides *that only lead one astray ! Had we but stopped and* destroyed the Karmas; the wish of the heart we should have had !

मनुष्य की जून दुर्लभ है जो विरथा हैं इसे खोते ।
वोह आसानी से मौका फिर नहीं है दूसरा पाते ॥

Difficult of attainment is the human form; these who now dissipate it away, Will never easily again obtain another such (golden) chance ?

अहिंसा-धर्म है सच्चा, अहिंसा मूल है तप का ।
अहिंसा पालने से कर्म-बन्धन सब हैं कट जाते ॥

True is the Dharma that teaches *non-injuring; of* saintship non-injuring is the root ! By the observance of, *the vow on non-injuring are destroyed the entirety of* the chains of Karma !

जो देखा गौर से तो आत्मा ही देव है सच्चा ।
सेखो संयम इसी के जोहरे असली नज़र आते ।।

On proper reflection, the soul itself is found to be the truest God! Joy and self-control would appear properly to appertain to the soul.

खुदा है, देव है, त्रिलोकी का सरताज है, जन है ।
तमामी पूज्य गुण हैं ज़ात में इसकी नज़र आते ।।

Khuda is He, He is Deva, too; the crown of Glory of the world, and Jina (Conqueror)! The infinity of the worshipful attributes all may be seen in Him;

हयाते ला ममातो वा नूरे खालिस, मौत का फ़ातेह ।
जो ऐसा अपने को जानें अवश्य वे सिद्ध-पद पाते ।।

Life that is Deathless, Effulgence Pure, the Conqueror, of Death; Those who know themselves as such, obtain the status of the Perfect Ones!

सुखा दर्शन व ज्ञानो वीर्य में निश्चय से है पूरन ।
इसी के गुण हैं हूरो जिन मलायक रात-दिन गाते ।।

In respect of Happiness, Perception, Knowledge and Power He is truly full! Houris, jinns, and angels chant His attributes (ceaselessly) night and day.

कर्म-बन्धन से घूटे आत्मा परमात्मा होवे ।
वजुज़ इसके नहीं कुछ फ़र्क हम दोनों में हैं पाते ।।

Freed from the bondage of Karma, the Soul becomes a God ! *There is no other difference that we can see between the two !*

संदर्भ :—युवाचार्य महाप्रज्ञ, "सम्बोधि" पृष्ठ २८०–२८१
Champat Rai Jain, "Fundamental of Jainisum" Page 115

आत्म - धर्म (Self restraint)

भगवान ने दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं :—

१. ग्राम धर्म — गांव की व्यवस्था ।
२. नगर धर्म — नगर की व्यवस्था ।
३. राष्ट्र धर्म — राष्ट्र की व्यवस्था ।
४. पाखण्ड धर्म — अन्य तीर्थिकों का धर्म ।
५. कुल धर्म — कुल का आचार ।
६ गण धर्म — गण (कुल समूह) की मर्यादा ।
७. संघ धर्म — संघ (समुदाय) की मर्यादा ।
८. श्रुत धर्म
९. चारित्र धर्म]— आत्म उत्थान (सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) होने के कारण ये दोनों आत्म-धर्म हैं ।
१०. आस्तिकता धर्म — ईश्वर सत्ता की धारणा ।

धर्मो द्विविधः प्रोक्तो, सदा जैन । जिनागमे ।
तत्र श्रुतस्य चारित्रं, धीर-धर्मोदयस्थितः ॥

प्रस्तुत श्लोक में आठवां और नवमां भेद आत्म-धर्म है, शेष व्यवहार धर्म है। व्यवहार धर्म में हिंसा, अहिंसा का विचार मुख्य नहीं होता। मुख्य होता है सामाजिक आचार नीति। समाज धर्म समाज सापेक्ष होता है। वह ध्रुव नहीं होता, परिवर्तनशील होता है। लौकिक धर्म की विचारणा में मोक्ष का विमर्श गौण होता है, सामाजिक अभ्युदय का विचार मुख्य होता है।

"घरम नयणे करि मारग जोवतां भूल्यो सकल संसार।
जेणे नयणे करि मारग जोइये नयन ते दिव्य विचार॥"

आनन्दघनजी ने कहा, "चर्म चक्षुओं से देखते हुए व्यक्ति मार्ग को नही देख सकता। मार्ग को देखने के लिए दिव्य नेत्र, अन्त: चक्षु चाहिये। धर्म की अनुभूति भी अन्तर्चक्षु से होती है, बाहर की आंखें धर्म को देख नहीं सकती। दस विध धर्म में यह अनेकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। स्वभाव, व्यवस्था, रीति-रिवाज या परम्परा आदि धर्म के अनेक अर्थ हैं। साधक को इन सबका विवेक कर स्वधर्म (आत्म-स्वभाव) में प्रवृत्त होना चाहिये। आत्म-धर्म सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप है। जो प्रक्रिया या नियम आत्म-बोध को उजागर करे, अज्ञान का विध्वंस करे, वही आत्म-धर्म है। जो धर्म आत्मा को अनावृत न करे वह वस्तुत: आत्म-धर्म नही होता। धर्म स्वयं को जानने की प्रक्रिया है। कन्फ्यूशियस ने कहा—अज्ञानी दूसरों को जानने की कोशिश करता है और ज्ञानी स्वयं की खोज में लगा रहता है। आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है।

धर्म की सुरक्षा प्रमुख है। इसके प्रति सजग होना जरूरी है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र जितने पुष्ट और सशक्त होंगे

Freed from the bondage of Karma, the Soul becomes a God ! There is no other difference that we can sea between the two !

संदर्भ :—युवाचार्य महाप्रज्ञ, "सम्बोधि" पृष्ठ २६०–२६१
Champat Rai Jain, "Fundamental of Jainisum" Page 118

आत्म - धर्म (Self restraint)

भगवान ने दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं :—

१. ग्राम धर्म — गांव की व्यवस्था ।
२. नगर धर्म — नगर की व्यवस्था ।
३. राष्ट्र धर्म — राष्ट्र की व्यवस्था ।
४. पाखण्ड धर्म — अन्य तीर्थिकों का धर्म ।
५. कुल धर्म — कुल का आचार ।
६ गण धर्म — गण (कुल समूह) की मर्यादा ।
७. संघ धर्म — संघ (समुदाय) की मर्यादा ।
८. श्रुत धर्म
९. चारित्र धर्म]— आत्म उत्थान (सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) होने के कारण ये दोनों आत्म-धर्म है ।
१०. आस्तिकता धर्म — ईश्वर सत्ता की धारणा ।

धर्मो दशविधः प्रोक्तो, मया मेघ ! विजानता ।
तत्र श्रुतञ्च चारित्रं, मोक्ष-धर्मोव्यवस्थितः ॥

प्रस्तुत श्लोक में आठवां और नवमां भेद आत्म-धर्म है, शेष व्यवहार धर्म है। व्यवहार धर्म में हिंसा, अहिंसा का विचार मुख्य नहीं होता। मुख्य होता है सामाजिक आचार नीति। समाज धर्म समाज सापेक्ष होता है। वह ध्रुव नहीं होता, परिवर्तनशील होता है। लौकिक धर्म की विचारणा में मोक्ष का विमर्श गौण होता है, सामाजिक अभ्युदय का विचार मुख्य होता है।

"चरम नयणे करि मारग जोवतां भूल्यो सकल संसार।
जेणे नयणे करि मारग जोइये नयन ते दिव्य विचार॥"

आनन्दघनजी ने कहा, "चर्म चक्षुओं से देखते हुए व्यक्ति मार्ग को नहीं देख सकता। मार्ग को देखने के लिए दिव्य नेत्र, अन्तः चक्षु चाहिये। धर्म की अनुभूति भी अन्तर्चक्षु से होती है, बाहर की आंखें धर्म को देख नहीं सकती। दस विध धर्म में यह अनेकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। स्वभाव, व्यवस्था, रीति-रिवाज या परम्परा आदि धर्म के अनेक अर्थ हैं। साधक को इन सबका विवेक कर स्वधर्म (आत्म-स्वभाव) में प्रवृत्त होना चाहिये। आत्म-धर्म सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप है। जो प्रक्रिया या नियम आत्म-बोध को उजागर करे, अज्ञान का विध्वंस करे, वही आत्म-धर्म है। जो धर्म आत्मा को अनावृत न करे वह वस्तुतः आत्म-धर्म नहीं होता। धर्म स्वयं को जानने की प्रक्रिया है। कन्फ्यूशियस ने कहा—अज्ञानी दूसरों को जानने की कोशिश करता है और ज्ञानी स्वयं की खोज में लगा रहता है। आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है।

धर्म की सुरक्षा प्रमुख है। इसके प्रति सजग होना जरूरी है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र जितने पुष्ट और सशक्त होंगे

धर्म उतना ही तेजस्वी होगा। धर्म या यम की सुरक्षा के लिए नियम होते हैं।

नियमा यम रक्षार्थ, तेषां रक्षा पयर्धते।
यमाभावो न चिन्त्यः स्यात् तथा धर्मं प्रहीयते ॥

नियम यम या धर्म की सुरक्षा के लिए होते हैं। जब नियमों की सुरक्षा ही मुख्य बन जाती है और यम का अभाव चिन्ता का विषय नही रहता, तब धर्म क्षीण होता है। इसलिए यमों का आचरण सदा करना चाहिये और नियमों का देश, काल और स्थिति के औचित्य के अनुसार पालन करना चाहिये। जब यम गौण और नियम प्रधान बन जाते हैं, तब धर्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है।

यम योग का पहला अंग है। यम वृत्तियों के संयमन के अर्थ में है। असत् प्रवृत्ति के अनेक प्रकार है परन्तु मुख्यतया हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह ये पाँच प्रकार माने गये हैं। ससार के प्रायः सभी विकार इनमें समाविष्ट किये जा सकते हैं। इनसे बचना, अपना संयमन करना, नियमन करना यम है। इन पाँच विकारों के आधार पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच यम माने गये हैं। ये ही जैन परम्परा में व्रतों के नाम है। ये पांच व्रत दो कोटियों में आते हैं—निरपवाद कोटि और सापवाद कोटि। निरपवाद कोटि महाव्रत की संज्ञा ले लेती है और सापवाद कोटि अणुव्रत की संज्ञा में आती है। महाव्रत में कोई अपवाद नही होता और अणुव्रत अपनी सामर्थ्य के अनुसार कतिपय अपवादों के साथ कोई भी व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। स्थानांग सूत्र में लिखा है, "चत्तारी धम्मदारा खंती मुत्ती अज्जवेय दव्वे" धर्म के चार द्वार हैं क्षमा, सरलता,

संतोप और विनय। जिस व्यक्ति मे ये गुण मिलते हैं वह धार्मिक कहा जा सकता है। धार्मिक होने का अर्थ है सत्य की दिशा में चलना। धार्मिक व्यक्ति के समस्त व्यवहारों में सत्य का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। अब वह पहले की तरह चल नहीं सकता, बोल नही सकता, लेन देन नहीं कर सकता, बातचीत नहीं सकता। उसे कोई भी कार्य करते हुए यह सोचना होगा कि इससे धर्म की हानि होगी या वृद्धि। धीरे धीरे जीवन की असत् प्रवृत्तियां विदा होने लगती है और एक दिन उसका जीवन दीप्तिमान हो उठता है। किन्तु पहले ही क्षण मे धर्म के इस परिणाम की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। इसके लिए बड़े उत्साह, धैर्य, त्याग और संघर्षो की आवश्यकता होती है। धर्म का जीवन प्रारम्भ करते ही घर, परिवार, समाज आदि से संघर्ष का सूत्रपात भी हो जाता है। लोग नही चाहते कि आप सब से उदासीन हो जाएँ। लोकभय से ही अनेक व्यक्ति उस मार्ग पर चलना छोड़ देते है। धर्म की तेजस्विता में कोई संदेह नहीं है, संदेह हैं व्यक्ति की क्षमता पर।

सुखा सक्तो मनुष्यो हि कर्त्तव्याद्विमुखो भवेत्।
धर्मे न रुचिमाधत्ते, विलासाबद्धमानसः ॥

भगवान ने कहा—जो मनुष्य सुख में आसक्ति रखता है और भोग विलास में रचा-पचा रहता है, वह कर्त्तव्य से विमुख बनता हैं उसकी धर्म में रुचि नहीं होती। अपवित्र व्यक्ति में धर्म नहीं ठहरता और जहाँ धर्म नहीं रहता वहाँ मोह की प्रबलता होती है।

कर्त्तव्यऽप्यकर्त्तव्यं भोगासक्तो न प्रोपति।
कार्याकार्यमजानानो, लोकाऽप्यान्ते विपीदति ॥

भोग में आसक्त रहने वाला व्यक्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बारे में सोच नहीं पाता। कर्त्तव्य और अकर्तव्य को नहीं जानने वाला व्यक्ति अन्त में विषाद को प्राप्त होता है। इस अविवेक से वह एक के बाद दूसरी मूढ़ता करता जाता है और अन्त में विषाद ग्रस्त हो समाप्त हो जाता है।

जीवन विकास के चार सूत्र बतलाये गए हैं:—ऋजुता, मृदुता, सहिष्णुता और मुक्ति।

१. ऋजुता :—सरलता का विकास। भगवान महावीर ने कहा "धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई"। धर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है। शुद्ध कौन? भगवान ने कहा, "जो ऋजु है, वह शुद्ध है।" ईसा मसीह ने कहा, "धार्मिक व्यक्ति बच्चे जैसा होता है।" ऋजु होना और बच्चे जैसा होना एक ही बात है। बच्चा कभी कुटिल नहीं होता। कुटिल कभी धार्मिक नहीं होता। आगे प्रश्न उभरता है। ऋजु कौन होता है? ऋजु वह होता है जिसे अनेकान्त की दृष्टि उपलब्ध है। एकान्त दृष्टि वाला कभी ऋजु नहीं होता। वह आग्रही होता है। वह दूसरों की दुर्बलताओं को देखता है। परिस्थिति को मूल्य देता है और अपने आसपास में होने वाली सारी कमजोरियों को दूसरों के सिर पर लाद देता है। वह आदमी कुटिल होता है और उसमें अनेकान्त की दृष्टि नहीं होती। हम ऋजु बनें, अनेकान्त की दृष्टि स्वीकार करें।

२. मृदुता :—अहंकार वृत्ति विसर्जन का विकास। जयाचार्य ने इस सम्बन्ध में कहा है :—

> सर्व भूत पर द्वेष तजी, सर्व मित्र सम जान।
> ममत भाव अहंकार तज, सुख दुख भाव समान॥

३ सहिष्णुता:—सहिष्णु होने का अभ्यास करना चाहिये। सहिष्णुता सध जाने पर ही सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि में सन्तुलन रखने की क्षमता पैदा होती है।

४. मुक्ति:—आकांक्षाओं से यदि मुक्ति पा लेते हैं तो बहुत सारी समस्याएं स्वतः ही समाहित हो जाती हैं। स्वार्थों का विसर्जन करना सीखें। मुक्ति का सूत्र है, "स्व" को विस्तार देना। मुक्ति यानि अकिञ्चन्य, अपना कुछ भी नहीं।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियऽनिग्रहः।
एतं सामासिक धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता का पालन करना, इन्द्रियों पर काबू रखना—मनु ने चारों वर्ण के लिए थोड़े में यह धर्म कहा है। भगवान महावीर ने कहा, "धम्मो मंगल मुक्किठं अहिंसा संयमोतवो" अर्थात् अहिंसा, सयम व तप सब मिला कर धर्म है और धर्म उत्कृष्ट मगल है। धर्म का पहला लक्षण है अहिंसा। हिंसा न करना—अहिंसा का अर्थ केवल यही नहीं है। अहिंसा का विकास करना है। अहिंसा के विकास के लिये सब से गहरी बात है हृदय परिवर्तन या मस्तिष्क की धुलाई (Brain wash)। अहिंसा की दिशा में दो आधारभूत क्रम हैं हृदय परिवर्तन और साधन-शुद्धि में विश्वास। साधन-शुद्धि में हमारी आस्था होना आवश्यक है। आस्था के बल के साथ समर्पण और वह भी एक महान शक्ति के प्रति और एक महान् लक्ष्य के प्रति होना जरूरी है। एक कथा आती है पुराने जमाने में दास प्रथा थी। बाजार में गुलामों की बिक्री हो रही थी। एक व्यक्ति गुलाम के पास गया और पूछा, "तुम क्या करोगे ?" उत्तर मिला, "जो मालिक कहेगा"। "क्या खाओगे ?" वही

उत्तर, "जो मालिक देगा" । फिर वैसा ही प्रश्न, "कहाँ रहोगे ?" एक ही उत्तर, "जहाँ मालिक कहेगा" । प्रत्येक प्रश्न का उत्तर, "मालिक की इच्छा" । व्यक्ति ने सोचा, "एक दास में इतना समर्पण भाव और मैं भगवान् की प्राप्ति में निकला हूँ, किन्तु आज तक भगवान् के प्रति इतना समर्पित नहीं हो सका ।"

अहिंसा के विकास के लिए एक और बात होनी चाहिये और वह है अभय । जो व्यक्ति डरता रहता है वह कभी अहिंसा को तेजस्वी नहीं बना सकता । सद्भावना का विकास, मैत्री या प्रेम का विकास । अपने विरोधी के प्रति भी मन में पूरी सद्भावना जिस व्यक्ति में नहीं होती, वह सफल अहिंसक नहीं हो सकता । अहिंसक अपने से शत्रुता रखने वाले को भी अपना प्रिय मित्र मानता है । वह अप्रिय वचन को समभाव से सहन करता है । वह प्रिय अप्रिय में सम रहता है । वह सम दृष्टि है, वह अहिंसक है । पाप या बुराई के प्रति घृणा का भाव हो सकता है किन्तु व्यक्ति यानि पापी के प्रति नहीं । सद्भावना के लिये अनिवार्य है कष्ट सहिष्णुता का विकास । जो कष्ट आने पर धैर्य नहीं रखता वह कष्ट-सहिष्णु नहीं हो सकता और वह अहिंसा के पथ पर नहीं चल सकता ।, अहिंसक व्यक्ति स्वेच्छा से कष्ट-सहिष्णुता का विकास करता है और समय आने पर अहिंसा के लिए आने वाले बड़े से बड़े कष्टों को झेलने की वह क्षमता रखता है । आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के पथ पर चलने का संकल्प लिया । उनके लिए जयाचार्य ने लिखा है, "मरण धार मुध मग लियो" "मैं प्राण दे दूँगा पर अहिंसा के पथ के मार्ग से विचलित नहीं होऊँगा ।" यह आंतरिक बल का विकास, वीरता, पराक्रम, कहीं भी हिंसा के सामने घुटने न टेकने का प्रबल संकल्प, अदम्य आत्म विश्वास ये सब अहिंसा की शर्तें हैं ।

इसका विकास किए बिना अहिंसा को तेजस्वी बनाना संभव नहीं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के जीवन सम्बन्धी जो विचार दिये गये हैं वे आज भी प्रेरणा दायक हैं। "गांधीजी एक महात्मा मात्र नहीं थे, वे ऋषि भी थे।" "पश्यति यः स ऋषि" वे दूरद्रष्टा थे। वे जानते थे कि देश का उत्थान केवल सत्य का अनुसरण करने से ही हो सकता है। उनके आश्रम में प्रातः और सायं नित्य उनके आश्रमवासी ग्यारह प्रतिज्ञाएं किया करते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, श्रम, संयम, निर्भयता, सर्व धर्म-साम्य, स्वदेशी और अस्पृश्यता, इन सब सूत्रों को एक सूत्र में पिरो कर कहा जायेगा नैतिकता। ये सब गुण परस्पर सहायक हैं। अगर किसी एक गुण को लेकर चला जाये तो और गुण स्वतः अपने आप मे आ जायेंगे।" इसलिए अहिंसा, सत्य आदि के विकास के लिए साधक प्रतिक्षण सजग रहे।

अपरिग्रह को विख्यात साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार के शब्दों में समझना उपयोगी होगा। उनके अनुसार, "अपरिग्रह का नितान्त शुद्ध रूप है कैवल्य। कैवल्य की स्थिति पर तीर्थंकर के लिए समवसरण की रचना हो जाती है। समवसरण के ऐश्वर्य का क्या ठिकाना है! लेकिन क्या उससे तीर्थंकर के कैवल्य में कोई त्रुटि पड़ती है? या अपरिग्रह पर कोई विकार आता है? व्यक्ति और वस्तु के बीच असम्बद्धता नहीं हो सकती। सारा जगत सामने पड़ा है, क्या अपरिग्रही उसको देखने से इन्कार करेगा? देखना भी एक प्रकार का सम्बन्ध है। दृष्टि सम्यक् वह नहीं है, जो वस्तु-मय जगत को देख नहीं पाती, सम्यक् दृष्टि वह है जो वस्तु में रुकती नहीं है। कोई व्यक्ति प्रत्यक्षतः दीन और दरिद्र है, वस्तु के नाम पर उसके पास पास अभाव ही अभाव है, क्या आप उसको अपरिग्रही कह सकेंगे? नहीं,

उसको दीन और दरिद्र इसलिए कहना होता है कि बाहरी अभाव के कारण उसका मन वस्तु के प्रति और भी ग्रस्त और लुब्ध होता है, ऊपर से नितान्त नग्न होते हुए भी वह भीतर से कातर और लोलुप हो सकता है। अपरिग्रह में वस्तु का लोभ व भय भी समाप्त हो जाता है। आत्म चेतना सर्वथा स्वयं निर्भर हो जाती है। दूसरे शब्दों में अपरिग्रह अभावात्मक नहीं, सद्-भावात्मक है अर्थात् अपरिग्रह में वस्तु के प्रति रुष्ट विमुखता नहीं होती, बल्कि प्रसन्न मुक्तता होती है। हमारी वर्तमान प्रधान मंत्री इन्दिरा गाँधी ने महावीर के शब्दों को साधारण भाषा में दोहराया है, "महावीर ने सिखाया है जरूरत से ज्यादा सचय ही झगड़े की जड़ है। महावीर का आदर्श अपरिग्रहवाद ही आज की त्रस्त जनता के लिये महत्वपूर्ण उपलब्धि है।"

सुख और दुख

सुख क्या है और दुःख क्या है यह सनातन प्रश्न है ? मनुष्य पदार्थों के उपभोग में सुख की कामना करता है. वह अवास्तविक है। वास्तविक यह है कि सुख पदार्थों के उपभोग में नहीं, उनके त्याग में है। मनुष्य प्रियता में सुख और अप्रियता में दुख की कल्पना करता है और प्रियता और अप्रियता को पदार्थों से सम्बन्धित मानता है। यह भ्रम है। प्रियता और अप्रियता

संदर्भ :—१. युवाचार्य महाप्रज्ञ, " अनेकान्त तीसरा नेत्र " पृष्ठ ६१:
"आदर्श साहित्य संघ चूरू द्वारा प्रकाशित विज्ञप्ति दि० ५-४-८३"

२. मुनि श्री राकेशकुमार, "योग दर्शन" जैन भारती: अगस्त ८२

3. श्री जैनेन्द्रकुमार, "अपरिग्रह" मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ४०५

पदार्थों में नहीं; मनुष्य के मन में होती है। जिन पदार्थो के प्रति मनुष्य का लगाव है, वहाँ वह प्रियता की और जहाँ लगाव नहीं है, वहाँ अप्रियता की कल्पना करता है यह सारा दुख है।

बाह्य पदार्थो के प्रति आसक्ति रहते हुए बुद्धि का द्वार नहीं खुलता। विवेक वहीं जागृत होता है जहाँ पदार्थासक्ति नहीं होती। मोह के रहते आसक्ति नहीं छूटती और इसका नाश हुए बिना वास्तविक सुख की अनुभूति नहीं होती। पर्ल. एस. बर्क के विचार इस सम्बन्ध में जानने योग्य हैं :—

"मेरे विचार से तो कोई भी व्यक्ति तब तक सुखी नहीं हो सकता जब तक वह जीवन और मृत्यु के द्वंद को भली भांति समझ कर मृत्यु के बजाय जीवन को सहज रूप से स्वीकार न करले। ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो जीवन से भाग कर मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर समझते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उनका ऐसा करना गलत है लेकिन सच तो यही है कि हर स्थिति मे मृत्यु की अपेक्षा जीवन को ही श्रेयस्कर मानना चाहिये।"

उपासना

उपासना भी मोक्ष मार्ग के लिये उपयोगी है। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। अच्छाई की उपासना करने से व्यक्ति अच्छा बनता है और बुराई की उपासना करने से बुरा। हम जिनकी उपासना करते हैं वैसे ही बन जाते हैं। श्रावक के

संदर्भ :— पर्ल एस.बक-"जीवन श्रेयस्कर है" सारिका, १६ से 31 मई १९८३, पृष्ठ ६३

उपास्य हैं—अरहन्त, सिद्ध और धर्म। श्रावक के निकटतम उपास्य हैं मुनि; श्रमण। श्रमण की उपासना व्यक्ति को केवल श्रमण ही नहीं बनाती वह मुक्त भी करती है। उपासना का आदि चरण है धर्म सम्बन्धी ज्ञान का श्रवण और अन्तिम चरण है निर्वाण यानि मोक्ष प्राप्त करना।

उपासना के दस फल हैं :—

१. श्रवण – तत्त्वों को सुनना।
२. ज्ञान – सत् और असत् का विवेक।
३. विज्ञान – तत्त्वों का सूक्ष्म और तलस्पर्शी ज्ञान।
४. प्रत्याखान – हेय का त्याग और उपादेय को स्वीकार करना।
५. संयम – आत्मभिमुखता।
६. अनास्रव – कर्म आने के मार्गों का अवरोध।
७. तप – आत्मा को विजातीय तत्त्व से विमुक्त कर अपने आप में युक्त करना। यह बारह प्रकार का है। इसका विवरण पृष्ठ २२६ पर दिया गया है।
८. व्यवदान – पूर्व - संचित कर्मों के क्षय होने से होने वाली विशुद्धि।
९. अक्रिया – आत्मा के समस्त कर्म जब पृथक हो जाते हैं तब मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति रुक जाती है, वह अक्रिया है।
१०. निर्वाण – आत्मा का पूर्ण उदय, कर्मों का सर्वथा विलय।

सत्संगति का एक क्षण भी संसार-सागर से पार कर देता है। नारद ने भगवान से कहा—मुझे मुक्ति दो। भगवान ने